1133 1257
duplicate

मुंडक उपनिषद

मुण्डक उपनिषद प्रामाणिक उपनिषदों में एक है। इसमें साम्प्रदायिकता का लेश भी नहीं। यह उपनिषद 'प्रश्न' और 'कठ' के साथ मिल कर एक त्रिक बनाती है। इस त्रिक में 'प्रश्न' की स्थिति एक संकलन की है; शेष दो उपनिषदों में 'मुण्डक' को पुराना समझा जाता है।

मुण्डक का अर्थ मूंडने वाला है। नापित सिर को मूंडने पर सिर से बालों को ही नहीं, उनके साथ खाल पर जमी हुई मैल को भी दूर कर देता है। उपनिषद के नाम से ही ज्ञात होता है कि इसकी शिक्षा का मुख्य उद्देश्य जीवन की निर्मलता है। अन्य उपनिषदों की तरह इस उपनिषद में भी उपनिषदकार अपने मन्तव्य को बयान कर देता है; उसे युक्ति से प्रमाणित करने की आवश्यकता नहीं समझता। दर्शनों में युक्ति प्रधान है। अनुमान प्रत्यक्ष पर आधारित होता है; और प्रत्यक्ष कई मनुष्यों का साझा ज्ञान होता है। उपनिषदकार अन्तर्ज्ञान का सहारा लेता है। ऐसा ज्ञान तो व्यक्ति का अपना बोध ही होता है। विवेचन के तीन प्रमुख विषय हैं—ब्रह्मांड, ब्रह्म और मानव। इनके सम्बन्ध में जो कुछ उपनिषदकार को सूझता है, उसे वह वर्णन कर देता है। सुनने वाले का काम है कि श्रवण के बाद उस पर मनन करे; और जो कुछ समझ में आये, उसे स्वीकार कर ले।

मुण्डक उपनिषद में तीन मुण्डक हैं, और प्रत्येक मुण्डक में दो खंड हैं। ६ खंड एक दूसरे के बराबर ही हैं, और सब में केवल ६४ श्लोक या गद्यांश हैं। पहला मुण्डक 'वंश' से आरम्भ होता है, और परा और अपरा विद्या में भेद करता है। परा विद्या का सम्बन्ध प्रायः सत्ता के तत्व से है; अपरा विद्या का सम्बन्ध लौकिक व्यवहार से है। यह भेद स्वभावतः कर्म और ज्ञान को हमारे सम्मुख ले आता है। मुण्डक का दूसरा खंड कर्म और ज्ञान को विचार का विषय बनाता है। दूसरे मुण्डक के पहले खंड में ब्रह्मांड और दूसरे में ब्रह्म विचार का विषय बनता है।

इन दो मुण्डकों में सिद्धान्त प्रधान है। तीसरे मुण्डक में उपनिषद का प्रमुख प्रयोजन आगे आता है। आत्मा के मैल को दूर करने, अपने आप को स्वच्छ बनाने का उपाय क्या है? तीसरा मुण्डक पहले रोग का निर्णय करता है; और निदान के बाद औषधि का उपचार करता है। यही अच्छे चिकित्सक का काम है। इस मुण्डक में कई श्लोक ऐसे हैं, जो दैनिक स्वाध्याय का भाग बनने योग्य हैं।

पहला मुण्डक

खण्ड १

ब्रह्मा देवानां प्रथमः सम्बभूव, विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता ।
स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह ॥१॥
अथर्वणे यां प्रवदेत ब्रह्मा, अथर्वा तां पुरोवाचांगिरे ब्रह्मविद्याम् ।
स भारद्वाजाय सत्यवाहाय प्राह भारद्वाजोऽङ्गिरसे परावराम् ॥२॥
शौनको ह वै महाशालोऽङ्गिरसं विधिवदुपसन्नः पप्रच्छ ।
कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवतीति ॥३॥

(१) देवों में प्रथम देव ब्रह्मा जो विश्व का कर्ता और जगत का रक्षक है, प्रकट हुआ । उसने अपने ज्येष्ठ पुत्र अथर्वा को सब विद्याओं की आधार भूत ब्रह्म विद्या का उपदेश किया ।

(२) जिस ब्रह्म विद्या का उपदेश ब्रह्मा ने अथर्वा को किया था, वह पूर्व काल में अथर्वा ने अंगिर को बताई । अंगिर ने भरद्वाज गोत्री सत्यवाह को बताई, और सत्यवाह ने परा और अपरा दोनों प्रकार की विद्या अंगिरा को बताई ।

(३) प्रसिद्ध गृहस्थ शौनक विधि पूर्वक शिष्य भाव से अंगिरा के पास पहुंचा और उससे पूछा:—

"भगवन् ! वह कौन वस्तु है जिसके जानने पर यह सब कुछ जाना जाता है ?"

तीसरे श्लोक के अन्तिम भाग में उपनिषद के प्रमुख विषय की ओर संकेत किया है। पहले श्लोक में भी ब्रह्म विद्या को अन्य विद्याओं की आधारभूत विद्या कहा है। ज्ञान में तीन स्तर स्पष्ट दीखते हैं। सबसे नीचे स्तर पर हमें विशेष तथ्यों का बोध होता है; हम उनमें किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं देखते। दूसरे स्तर पर विज्ञान का स्थान है। विज्ञान का क्षेत्र सीमित होता है, परन्तु उस क्षेत्र में जो तथ्य परीक्षण का विषय बनते हैं, वे संबद्ध होते हैं; एक तार विविध मनकों में से गुजर कर उन्हें माला बना देता है। तत्वज्ञान में क्षेत्र सीमित नहीं रहता; समस्त सत्ता विवेचन का विषय बनती है। यह ज्ञान का सबसे ऊंचा स्तर है। इसी भेद को प्रकट करने के लिए उपनिषद ने ब्रह्म विद्या को अन्य विद्याओं का आधारभूत कहा है।

पहले श्लोक में कहा है कि ब्रह्मा ने अपने आपको प्रकट किया; उसने ब्रह्म विद्या का प्रकाश किया। उपनिषदों में कई बार कहा है कि यह विद्या ज्येष्ठ पुत्र या सुयोग्य शिष्य को ही देनी चाहिये। ब्रह्मा ने इसका उपदेश अपने 'ज्येष्ठ पुत्र' अथर्वा को किया। यहां ज्येष्ठ पुत्र से अभिप्राय अनन्य भक्त है। आशय यह है कि तत्वज्ञान दैवी ज्ञान है। इसी आशय को व्यक्त करने के लिए प्राचीन यूनान के दार्शनिक सुकरात की बाबत कहा जाता है कि वह तत्व-ज्ञान को स्वर्ग से पृथ्वी पर ले आया। अथर्वा से जिन आचार्यों को यह विद्या प्राप्त हुई, उनके नाम दिये गये हैं; हम प्रसिद्ध गृहस्थ शौनक के आभारी हैं।

तस्मै स होवाच द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म,
यद् ब्रह्मविदो वदन्ति, परा चैवापरा च ॥४॥
तत्रापरा, ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः,
शिक्षा कल्पो व्याकरणं
निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति ।
अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते ॥५॥

(४) अंगिरा ने शौनक को कहा:—
ब्रह्म के जानने वाले कहते हैं कि दो विद्यायें जानने के योग्य हैं—परा विद्या और अपरा विद्या।

(५) 'इन दोनों में ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छंद और ज्योतिष अपरा विद्या हैं, परा विद्या वह है जिससे वह 'अक्षर' (अविनाशी) जाना जाता है।'

जैसा पहले कह चुके हैं, अपरा विद्या का प्रमुख उद्देश्य जीवन-व्यवहार में कृतकार्य बनाना है; परा विद्या प्राय: अन्तिम सत्ता के स्वरूप की बाबत बताती है। यह दोनों विद्याओं के क्षेत्र का भेद है। श्लोक ४ में अंगिरा ने कहा है कि यह दोनों विद्यायें जानने के योग्य हैं।

अपरा विद्या के अन्तर्गत चार संहिता और ६ वेदांग आते हैं। ६ वेदांग ये हैं:—

शिक्षा—वर्ण स्वरादि उच्चारण की विद्या,
कल्प—कर्मकांड का विधान करने वाली विद्या,
व्याकरण,
निरुक्त—वैदिक पदों का कोश,
छन्द,
ज्योतिष—द्युलोक के नक्षत्रों की विद्या।

उपनिषद् का प्रमुख विषय परा विद्या है। इसे ब्रह्मांड विवेचन से आरम्भ करते हैं। दो प्रश्न उपनिषदकार ने अपने सन्मुख रखे हैं:—

(१) दृश्य जगत का मूल आधार क्या है?
(२) जगत के सृजन का क्रम क्या है?

इन प्रश्नों का उत्तर खंड के शेष श्लोकों में दिया है।

यत्तदद्रश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादम्।
नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं तद्भूतयोनिं
परिपश्यन्ति धीराः ॥६॥
यथोर्णनाभिः सृजते गृहृणते च यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति।
यथा सतः पुरुषात्केशलोमानि, तथाऽक्षरात् सम्भवतीह
विश्वम् ॥७॥

तपसा चीयते ब्रह्म ततोऽन्नमभिजायते ।

अन्नात् प्राणो मनः सत्यं लोकाः कर्मसु चामृतम् ॥८॥

यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः ।

तस्मादेतद्ब्रह्म नाम रूपमन्नं च जायते ॥९॥

(६) 'वह जिसे धीर पुरुष भूतों की योनि (जगत का मूल कारण) देखते हैं, देखा नहीं जा सकता, पकड़ा नहीं जा सकता, अजन्मा है, रंग रूप रहित है, आंख, कान, हाथ, पांव से रहित है, नित्य है, सब वस्तुओं में विद्यमान है, सर्व व्यापक है, अति सूक्ष्म है, समाप्त न होने वाला है।'

(७) 'जिस प्रकार मकड़ी जाले को पूरती और फिर निगल जाती है, जैसे पृथ्वी में से ओषधियां निकलती हैं, जैसे जीवित पुरुष के सिर और शरीर से बाल उत्पन्न होते हैं, वैसे ही उस 'अक्षर' से यहां विश्व प्रकट होता है।'

(८) 'तप से 'ब्रह्म' केन्द्रित होता है, उससे 'अन्न' उत्पन्न होता है। अन्न से 'प्राण', 'मन', 'सत्य', 'लोक' और 'कर्म' उत्पन्न होते हैं, और कर्म से 'अमृत' मिलता है।'

(९) 'जो सर्वज्ञ और सर्वविद् है, जिसका तप ज्ञानमय ही है, उससे यह ब्रह्म, नाम रूप और अन्न पैदा होते हैं।

इन ४ श्लोकों में विश्व के मूल कारण और इसके विकास–क्रम की बाबत उपनिषदकार ने अपना मत वर्णन किया है और मूलकारण के कुछ विशेषण भी बताये हैं।

साधारण मनुष्य जगत में रहता है, इसे देखता है, परन्तु वह वर्तमान से आगे या पीछे बहुत दूर नहीं देखता। विवेचन में हम जगत के आरंभ और अन्त की बाबत सोचते हैं। यहाँ आरम्भ का प्रश्न प्रमुख है।

जगत की उत्पत्ति की बाबत तीन विचार प्रसिद्ध हैं :—

(१) परमात्मा ने इसे किसी विशेष काल में अभाव से उत्पन्न किया।

(२) परमात्मा ने जगत को अपने अन्दर से निकाला; जगत परमात्मा का दृष्ट अंश ही है।

(३) जगत की सामग्री तो नित्य है; उसे विशेष रूप परमात्मा ने दिया।

पहला विचार उत्पत्तिवाद है; दूसरा विचार उद्गार वाद है जिसके अनुसार परमात्मा एक साथ जगत का निमित्त और उपादान कारण है; तीसरे विचार के अनुसार, दृष्ट जगत का उपादान कारण प्रकृति है और निमित्त कारण परमात्मा है।

इन तीनों में उपनिषदकार का मत क्या है?

पहला विचार तुरन्त अलग हो जाता है। दूसरे और तीसरे विचार के अनुयायी अपने अपने विचार को उपनिषद के उपर्युक्त श्लोकों में देखते हैं; इन श्लोकों को ध्यान से देखें।

श्लोक ६ में मूलकारण के लिये किसी विशेष शब्द का प्रयोग नहीं किया, परन्तु उसके विशेषणों की लम्बी सूची दी है। इन विशेषणों में यह जताने का यत्न किया है कि मूलकारण में व्यक्त जगत के चिन्ह विद्यमान नहीं।

वह ज्ञानेन्द्रियों का विषय नहीं, वह कर्मेन्द्रियों से आक्रांत नहीं होता उसका कोई वर्ण (रूप-रंग) नहीं। स्वयं उसमें भी ज्ञान या कर्म की इन्द्रियां नहीं; वह नित्य है और हर कहीं विद्यमान है। श्लोक ७ में मूलकारण के

लिये 'अक्षर' शब्द का प्रयोग किया है, और यह भी कहा है कि उस 'अक्षर' से विश्व प्रकट ही नहीं होता, अन्त में उसी में समा भी जाता है।

श्लोक ८ विकास क्रम की बाबत कहता है, और जो वस्तुयें मूलकारण से उत्पन्न होती हैं, उनमें पहला नाम 'ब्रह्म' है।

इन श्लोकों में मूलकारण के लिये 'अक्षर' शब्द का प्रयोग हुआ है। 'अक्षर' का अर्थ नित्य, अविनाशी है। प्रकृति और पुरुष दोनों को ही अविनाशी बताया जाता है! प्रश्न यह है कि इन श्लोकों में 'अक्षर' का प्रयोग मूल प्रकृति के लिये हुआ है, या परमात्मा के लिये।

व्यक्त जगत में हम निम्न चिन्ह देखते हैं —

इसमें अनेक पदार्थ विद्यमान हैं, जो विशेष गुणों के कारण एक दूसरे से भिन्न दीखते हैं, जो एक दूसरे पर क्रिया करते हैं और जो विशेष स्थानों पर स्थित हैं। जीवित शरीरों की विशेष स्थिति है: यह अन्य पदार्थों की तरह जाने ही नहीं जाते; अन्य पदार्थों के ज्ञान का हेतु भी हैं—ज्ञान और कर्म इन्द्रियां इनके अंग हैं। श्लोक ६ के अनुसार, व्यक्त जगत के इन चिन्हों में से कोई चिन्ह मूलकारण (अक्षर) में नहीं पाया जाता। जो लक्षण यहां 'अक्षर' के बयान किये गये हैं, वे अव्यक्त प्रकृति में घटते हैं। यह बात विशेष ध्यान के योग्य है कि इन लक्षणों में चेतना का ज़िक्र नहीं। श्लोक ७ में उत्पत्ति के लिये जो उपमायें दी गई हैं, वे सभी प्राकृत पदार्थों की हैं—मकड़ी का शरीर, पृथवी और जीवित प्राणी का सिर आदि। इन दोनों श्लोकों से पता लगता है कि यहां कारण से अभिप्राय उपादान है।

विश्व-सृजन के लिये अव्यक्त प्रकृति की आवश्यकता है, परन्तु यह पर्याप्त नहीं। घड़ा बनता मिट्टी से है, परन्तु इसे बनाता तो कुम्हार है। श्लोक ९ में सृजनकार के लिये 'सर्वज्ञ' और 'सर्ववित' शब्दों का प्रयोग किया है; यहां 'अक्षर' को दुहराया नहीं। इस श्लोक में जगत के निमित्त कारण का वर्णन है। जो कुछ बना है, उसमें प्रथम नाम 'ब्रह्म' है। स्पष्ट है कि यहां

'ब्रह्म' से अभिप्राय ब्रह्माण्ड, समस्त जगत है। इसमें जो कुछ विशेष रूप में दिखाई देता है, वह नाम-रूप और अन्न (अजीव और सजीव वस्तु) में आ जाता है।

श्लोक ८ में सृष्टिक्रम की बाबत कहा है। सांख्य दर्शन में विकास-क्रम विवेचन का विशेष विषय है। नवीन दर्शन में हर्बर्ट स्पेन्सर ने इस विषय पर विस्तार से लिखा है।

दोनों विचारों के अनुसार अव्यक्त प्रकृति विशेषण-रहित थी। विकास का आरम्भ गति से हुआ। इसी के लिये मुण्डक उपनिषद में 'तप' का प्रयोग हुआ है। परमात्मा के तप को इस तप से भिन्न बताने के लिये श्लोक ६ में परमात्मा के तप को ज्ञानमय कहा है।

अव्यक्त प्रकृति अति पतली होती है। पुच्छल तारों की पूंछ इतनी सूक्ष्म होती है कि हमारी पृथिवी सूर्य के गिर्द चक्कर काटते हुए उस पूंछ में से गुज़र जाती है और हमें इसका ज्ञान भी नहीं होता। विकास में पहला परिवर्तन यह होता है कि सूक्ष्म प्रकृति केन्द्रित होती है। इस अवस्था के लिए 'अन्न' शब्द का प्रयोग हुआ है। इस अन्न से 'प्राण' प्रकट होता है। साधारण शब्दों में अजीव प्रकृति के बाद सजीव प्रकृति प्रकट होती है। यह क्रिया अब भी प्रतिक्षण हो रही है। एक बीज भूमि में गिरता है और वह अपने इर्दगिर्द की अजीव प्रकृति को एक विशाल वृक्ष में बदल देता है। जीवन के बाद चेतना प्रकट होती है। स्पेन्सर के विचारानुसार भी अजीव प्रकृति केन्द्रित हुई, इसके बाद जीवन प्रकट हुआ और जीवन के बाद चेतना व्यक्त हुई।

जिन प्राणियों में मन है, उनमें मनुष्य सब से ऊंचे स्तर पर है। यहां विकास-क्रम के वर्णन में उपनिषद मनुष्य की ओर देखने लगती है।

मनुष्य का विशेष चिन्ह यह है कि वह आदर्श को देख सकता है और अपने आचरण को स्वीकृत आदर्श के अनुकूल बनाने का यत्न कर सकता है। अन्य प्राणियों में यह योग्यता नहीं होती। इस भेद को स्पष्ट करने

के लिये, जर्मनी के प्रसिद्ध दार्शनिक कांट ने कहा कि अन्य सभी प्राणी नियम के अनुसार विचरते हैं, मनुष्य नियम के प्रत्यय के अनुसार कर्म कर सकता है। मनुष्य की क्रिया शून्य में नहीं होती, किसी वातावरण में होती है। उपनिषद में धर्म-नियम के लिये 'सत्य' का और क्रिया-क्षेत्र के लिये लोक का प्रयोग किया है। मनुष्य को अन्य प्राणियों के स्तर से उठाकर मनुष्यत्व के स्तर तक पहुँचने के लिए 'सत्य', 'लोक', और 'कर्म' की आवश्यकता है। मन (चेतना) के बाद उपनिषद ने इन तीनों के प्रकट होने का वर्णन किया है। आदर्श की सिद्धि के लिये जो कर्म किया जाता है, उसका प्रयोजन परमपद की प्राप्ति है। इस परमपद को अमृत या मोक्ष कहते हैं। यदि अमृत की सम्भावना न हो, तो धर्म-कर्म निष्प्रयोजन सा हो जाता है। उपनिषद ने मोक्ष के अस्तित्व को मानकर इसे विकास के अंशों में अन्तिम स्थान दिया है।

ब्रह्माण्ड सृजन के बाद, उपनिषद फिर अपराविद्या और पराविद्या की ओर फिरती है। अपराविद्या में प्रमुख शिक्षा कर्म की है; पराविद्या में ज्ञान का विशेष महत्व है। मुण्डक के दूसरे खण्ड में कर्म और ज्ञान की बाबत विचार किया गया है।

खण्ड २

तदेतत्सत्यं मंत्रेषु कर्माणि कवयो
यान्यपश्यंतानि त्रेतायां बहुधा सन्ततानि ।
तान्याचरथ नियतं सत्यकामा
एष वः पन्थाः सुकृतस्य लोके ॥१॥
यदा लेलायते ह्यर्चिः समिद्धे हव्यवाहने ।
तदाज्यभागावंतरेणाहुतीः प्रतिपादयेत् ॥२॥
यस्याग्निहोत्रमदर्शमपौर्णमासमचातुर्मास्य-
मनाग्रयणमतिथिवर्जितं च ।

अहुतमवैश्वदेवमविधिना हुतमश्रद्धया
हुतमासप्तमाँतस्य लोकान् हिनस्ति ॥३॥

(१) 'यह सत्य है :

जिन कर्मों को बुद्धिमानों ने मन्त्रों में देखा, वे त्रेता युग में अनेक प्रकार से किये जाते थे। सत्य काम पुरुषो ! तुम भी उन कर्मों को नियम से करो। पुण्य लोक में तुम्हारा यही मार्ग है।'

(२) 'जब समिधाओं से अग्नि प्रदीप्त हो और ज्वाला लपटें लेती हो, तो घी की दो आहुतियों के मध्य में आहुतियां कुण्ड में डाले।'

(३) 'जो पुरुष दर्श, पूर्णमास, चातुर्मास में और नई फ़सल के समय यज्ञकर्म नहीं करता; जो ऐसे अवसर पर अतिथियों का सत्कार नहीं करता; जो उचित समय पर, ठीक विधि से इन कर्मों को नहीं करता; जो वैश्वदेव कर्म नहीं करता; उसका कर्म उसके सात लोकों को नष्ट कर देता है।'

श्लोक १ में कहा गया है कि कर्मकाण्ड सम्बन्धी वेद के आदेशों क त्रेता युग में विविध यज्ञों का रूप दिया गया। इन यज्ञों का करना अब भी अनिवार्य है; 'यही पुण्यलोक में मनुष्यों का मार्ग है'। श्लोक २ में कहा है कि आहुतियां प्रचण्ड अग्नि में डालनी चाहिये; ऐसा करने से ही सामग्री के सूक्ष्म परमाणु वायुमण्डल में पहुँच कर यज्ञ के लौकिक उद्देश्य को पूरा कर सकते हैं। तीसरे श्लोक में दो बातों पर विशेष बल दिया है : (१) कुछ यज्ञ अवश्य करने चाहिये; (२) यज्ञ कर्म विधि–अनुसार होने चाहिये। ऐसा न होने की हालत में अन्य कर्म निरर्थक ही नहीं होता, कर्त्ता के सातों लोक नष्ट हो जाते हैं। अन्तिम वाक्य में विशेष यज्ञों और विधि के महत्व को बढ़ा चढ़ा कर कहा गया है।

काली कराली च मनोजवा च सुलोहिता या च सुधूम्रवर्णा।
विस्फुलिंगिनी विश्वरूपी च देवी लेलायमाना इति सप्तजिह्वाः ॥४॥

एतेषु यश्चरते भ्राजमानेषु यथाकालं चाहुतयो ह्याददायन् ।
तं नयन्त्येताः सूर्यस्य रश्मयो यत्र देवानां पतिरेकोऽधिवासः ॥५॥
एह्येहीति तमाहुतयः सुवर्चसः सूर्यस्य रश्मिभिर्यजमानं वहन्ति ।
प्रियां वाचमभिवदन्त्योऽर्चयन्त्य एष वः पुण्यः सुकृतो ब्रह्मलोकः ॥६॥

(४) कुण्ड की अग्नि की ७ जिह्वा हैं—काली, कराली (भयानक), मनोजवा (मन की तरह चंचल), सुलोहिता (अतिलाल), धूम्रवर्णा (धुएं के रंग की), चिनगारी वाली, विश्वरूपी ।'

(५) 'जो पुरुष इन प्रकाशमान जिह्वाओं में यथा समय हवन करता है, उसे यह आहुतियां स्वीकार करती हैं, और सूर्य की किरणें बन कर वहाँ पहुंचा देती हैं, जहां देवों का एकमात्र पति निवास करता है ।'

(६) 'यह आहुतियां 'आओ, आओ' कहती हुई सूर्य की किरणों पर यजमान को उठा ले जाती हैं । ये प्रेम और सत्कार के शब्दों में उसे कहती हैं—'यह ब्रह्मलोक है; यह तुम्हारे शुभ कर्म का फल है ।'

इन श्लोकों में नियत कर्म को नियत विधि के साथ करने का महत्व बयान किया है । इसका फल ब्रह्मलोक में पहुँचना है । यहां तक प्रतीत होता है कि कर्मकाण्ड का फल परमगति है; जब मनुष्य देवों के एकमात्र पति के धाम में जा पहुँचे, तो शेष क्या इष्ट हो सकता है ?

खण्ड के अगले श्लोक इस तसल्ली को निर्मूल बताते हैं । कर्मकाण्ड आवश्यक तो है, परन्तु पर्याप्त नहीं । जो लोग इसे पर्याप्त समझते हैं, वह अन्धेरे में है । उपनिषदकार इस रहस्य को सरल शब्दों में कह देने पर सन्तोष नहीं करता । खण्ड के पाठ से पाठक के मन पर यह प्रभाव पड़ता है कि यहाँ कर्मकाण्ड और विवेक (ज्ञान काण्ड) का विवाद हो रहा है और ज्ञानकांडी प्रतिपक्षी के मन्तव्य का खण्डन करने में ऐसे शब्दों का प्रयोग करता है, जो मानसिक संतुलन के अनुरूप नहीं । देखिये :—

प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म ।
एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा जरामृत्युं ते पुनरेवापियान्ति ॥७॥
अविद्यायामन्तरे वर्त्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितम्मन्यमानाः ।
जंघन्यमानाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमानाः यथान्धाः ॥८॥
अविद्यायाँ बहुधा वर्त्तमाना वयं कृतार्था इत्यभिमन्यन्ति बालाः ।
यत्कर्मिणो न प्रवेदयन्ति रागात्तेनातुराः क्षीणलोकाश्च्यवन्ते ॥९॥
इष्टापूर्त्तं मन्यमाना वरिष्ठं, नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढाः ।
नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वेमं लोकं हीनतरं वा विशन्ति ॥१०॥

(७) 'यह यज्ञकर्म, जो १८ याज्ञिकों (यजमान, उसकी पत्नी और १६ ऋत्विज) से किये जाते हैं, अस्थिर, नाशवान हैं। जो मूढ़ पुरुष इन्हें ही श्रेय समझते हैं, वे फिर बुढ़ापे और मृत्यु को प्राप्त होते हैं।

(८) 'अविद्या में फंसे हुए, अपने आप को समझदार मानने वाले, मूढ़ जन दुखी भटकते रहते हैं। इनकी अवस्था उन अन्धों की अवस्था है जिनका पथप्रदर्शन भी अन्धे ही करते हैं।'

(९) 'बालबुद्धि पुरुष अनेक प्रकार से अविद्याग्रस्त रहते हैं, परन्तु समझते हैं कि वे कृतार्थ हो गये हैं। चूंकि सकाम कर्म करने वाले मनुष्य तथ्य को नहीं जानते, वे आसक्ति के कारण दुखी होते हैं और कर्मफल के भुगत चुकने पर फिर नीचे गिरते हैं।

(१०) 'जो मूढ़ पुरुष इष्ट (यज्ञकर्म) और पूर्त्त (जनहित के कार्य) को श्रेष्ठ मानते हैं और इनके अतिरिक्त किसी अन्य श्रेय में विश्वास नहीं

करते, वे अपने कर्मों का फल भोगने के बाद इस लोक में और इससे भी हीनतर लोकों में प्रवेश करते हैं।'

इन चारों श्लोकों में, निरे कर्मकांड में विश्वास करनेवालों के लिये हरेक में 'मूढ़' या 'बालबुद्धि' का प्रयोग किया गया है। अच्छा होता यदि इसके साथ ही निरे ज्ञानकांड में विश्वास करनेवालों की बाबत भी कुछ कह दिया जाता।

स्थिति को यजुर्वेद के तीन मन्त्रों में बहुत सुन्दर रीति से वर्णन किया गया है :

'जो लोग अविद्या (विद्या से अतिरिक्त=कर्म) की उपासना करते हैं, वे घने अन्धकार में प्रवेश करते हैं; जो लोग केवल विद्या में आसक्त हैं, वे उससे भी गहरे अन्धकार में जाते हैं।'

'विद्या का फल एक है, उससे भिन्न फल कर्म का है; ऐसा तत्वदर्शियों से सुना है, जिन्होंने हमें यह रहस्य बतलाया है।' 'जो पुरुष विद्या और कर्म को एक साथ जानता है, वह कर्म की सहायता से मृत्यु को तर जाता है और ज्ञान की सहायता से अमृत (मोक्ष) को प्राप्त होता है।'

(यजु० ४० : ९—११)

यज्ञों के करने में सामग्री खर्च होती है; याजकों को दक्षिणा देनी होती है और निमन्त्रित मित्र-बन्धुओं के सत्कार में व्यय होता है। यज्ञों का करना गृहस्थों का काम है; जो पुरुष गृहस्थ छोड़ कर बनों में जा टिकता है, वह दैनिक अग्निहोत्र कर सकता है, विशेष यज्ञों को नहीं कर सकता। ऐसा पुरुष ज्ञान-ध्यान के लिये गृहस्थ को छोड़ता है। कर्म और ज्ञान का विवाद गृहस्थ और वानप्रस्थ के सापेक्ष मूल्य के रूप में प्रस्तुत हो जाता है। यदि कर्म की अपेक्षा ज्ञान का मूल्य इतना अधिक है, तो गृहस्थ के धन्धों से विमुक्त होकर बनों के उपयोगी वातावरण में पहुँचना चाहिये। खण्ड के अन्तिम ३ श्लोक इसी ख्याल का प्रतिपादन करते हैं।

तपःश्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये शान्ता विद्वांसो भैक्षचर्यां चरन्तः ।
सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति यत्रामृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा ॥११॥
परीक्ष्य लोकान्कर्मचितान्ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतं कृतन ।
तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्॥१२॥
तस्मै स विद्वानुपसन्नाय सम्यक् प्रशान्तचित्ताय शमान्विताय ।
येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं प्रोवाच तां तत्वतो ब्रह्मविद्याम् ॥१३॥

(११) जो शान्त विद्वान, तप और श्रद्धा सेसम्पन्न, भिक्षावृत्ति को अपना कर वन में वास करते हैं, वे निष्पाप जीवन की समाप्ति पर सूर्य द्वार से वहां पहुंचते हैं, जहां अमर अविनाशी आत्मा, पुरुष का स्थान है।

(१२) यह जान कर कि कर्म (कर्मकांड) का फल अनित्य है, ब्राह्मण को चाहिए कि विरक्त हो जाये। वह नित्य अविनाशी ब्रह्म को जानने के लिये, समिधाहाथ में लिये (शिष्यभाव से) ऐसे गुरु के पास जाय, जो वेद को जानता हो और ब्रह्मपरायण हो।'

(१३) 'वह विद्वान गुरु अपने पास आये शान्तचित्त, संयमी जिज्ञासु, को ठीक ठीक वह ब्रह्मविद्या बताये जिससे वह सत्य, अक्षर पुरुष को जान सके।

इन श्लोकों में जिज्ञासु और गुरु के गुणों का वर्णन है। गुरु तो साधनों का प्रयोग करके ऊँचे स्तर पर पहुँच चुका है: उसे वेद का ज्ञान है, और वह ब्रह्मपरायण है। जिज्ञासु को किस प्रकार का मनुष्य होना चाहिए?

श्लोक १२ में कहा है कि यह आदेश ब्राह्मण के लिए है। श्लोक ११ में कहा है कि वह विद्वान हो, शान्तिचित्त हो, तपस्वी हो, श्रद्धा से युक्त हो। ये भी ब्राह्मवृत्ति का ही वर्णन है। अभिप्राय यह है कि आश्रम-परिवर्तन उसी व्यक्ति के लिए लाभदायक हो सकता है, जो इसके लिए तैयार हो, जो यात्रा की पहली मंजिलें भलीभाँति समाप्त कर चुका हो। ब्रह्मविद्या का अधिकार हर किसी को नहीं।

उपनिषद् के इस खण्ड को पढ़ने पर हमारा ध्यान दर्शनों में पूर्व और उत्तर मीमांसा की ओर जाता है। पूर्व मीमांसा धर्म मीमांसा है; उत्तरमीमांसा का विषय ब्रह्म जिज्ञासा है। पूर्व मीमांसा के अनुसार, धर्म का प्रमुख भाग कर्मकांड है और यह गृहस्थ ही कर सकते हैं। पूर्व मीमांसा ज्ञान को कर्म का अंश समझता है, और गृहस्थ-त्याग की आवश्यकता नहीं समझता। इसके विचारानुसार ब्रह्मज्ञान सभी आश्रमों में प्राप्त हो सकता है, आश्रम का परिवर्तन आवश्यक नहीं।

दूसरा मुण्डक

खण्ड १

तदेतत्सत्यं, यथा सुदीप्तात् पावकाद्विस्फुलिंगाः,
सहस्रश प्रभवन्ते सरूपाः ।
तथाक्षराद्विविधा सोम्य !
भावा प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति ॥१॥

(१) 'यह तथ्य है :

जिस प्रकार प्रदीप्त अग्नि से सहस्रों एक ही रूप की चिनगारियां निकलती हैं, उसी तरह प्यारे! अक्षर से नाना प्रकार की वस्तुएँ प्रकट होती हैं, और उसी में लीन हो जाती हैं।'

यहाँ खण्ड को उन्हीं शब्दों के साथ आरम्भ किया है, जिनके साथ मुंडक का दूसरा खण्ड आरम्भ हुआ था। इस श्लोक में सृष्टि और प्रलय की बाबत पहले कहे गये सिद्धान्त को दोहराया है: अक्षर (मूलप्रकृति) से दृश्य जगत के सभी पदार्थ निकलते हैं, और फिर उसी में लीन हो जाते हैं।

इसके आगे ब्रह्म का वर्णन होता है। जैसा पहले कह चुके हैं, अव्यक्त प्रकृति संसार का उपादान कारण है, और ब्रह्म उसका निमित्त कारण है।

दिव्यो ह्यमूर्त्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरोः ह्यज ।
अप्राणो ह्यमना शुभ्रो ह्यक्षरातारतः परः ॥ २ ॥

(२) 'वह दिव्य है, अमूर्त है, पुरुष है, वह बाहर और भीतर है और अजन्मा है। उसमें प्राण और मन नहीं; वह विशुद्ध है; वह अक्षर से भी परे है।'

ऊपर के श्लोक में ब्रह्म के कुछ विशेषण बयान किये गये हैं। इन विशेषणों में प्रथम स्थान पुरुषत्व या आत्मत्व को दिया गया है। परमात्मा आत्मा या पुरुष है; उसमें कोई प्राकृत अंश नहीं। इसीलिए वह अमृत और दिव्य है।

यह विशेषण उसे प्रकृति की दुनिया से अलग करते हैं। कुछ विचारक ब्रह्म और ब्रह्मांड में भेद नहीं करते। उनके विचार में अन्तिम सत्ता एक ही है, चाहे उसे ब्रह्म कहें, या ब्रह्मांड कहें। नवीन दर्शन में स्पीनोजा का ऐसा विचार था। भारत में भी अद्वैतवादी ऐसा ही समझते हैं; भेद इतना है कि स्पीनोजा चेतना और विस्तार को ब्रह्म के एक जैसे विशेषण समझता है, और भारत के अद्वैतवादी विस्तार को चेतना की अनेक अवस्थाओं में एक अवस्था समझते हैं। उपनिषद में स्पष्ट शब्दों में कहा है कि ब्रह्म अमूर्त और आत्मा है; वह प्राकृत जगत और प्रत्येक वस्तु के बाहर है। परन्तु बाहर ही नहीं, प्रत्येक वस्तु के अन्दर भी है। इस बयान में ब्रह्म के एकदेशी होने को अस्वीकार किया है। यह बयान उपनिषद के मन्तव्य को इसलाम और ईसाइयत के मतों से भिन्न बताता है। इसलाम के अनुसार पृथ्वी परमात्मा का निवासस्थान बनने के योग्य नहीं; वह इससे दूर, बहुत दूर, किसी आसमान पर स्थित है। यहूदी विचार के अनुसार वह है तो आसमान पर, परन्तु कभी-कभी पृथ्वी पर पैगम्बरों पर प्रकट हो जाता था। ईसाई विचार के अनुसार, वह या उसका एक अंश कुछ काल के लिये श्री ईसा के रूप में पृथिवी पर रहा। इसलाम ने परमात्मा को पृथिवी से दूर ही रखा है। न कोई मनुष्य उससे भेंट करता है, न वह किसी मनुष्य के सम्पर्क में आता है। उसे जो आदेश मनुष्यों को देना होता है, वह किसी देवदूत के द्वारा भेजता है। उपनिषद परमात्मा को प्रत्येक पदार्थ का अन्तरात्मा बताती है। ब्रह्म अजन्मा है। इस एक शब्द में उपनिषद अवतारवाद को अस्वीकार कर देती है।

जगत के पदार्थ कुछ बेजान हैं, कुछ जानदार; जानदारों में कुछ

अचेतन हैं, कुछ चेतन। प्राण (जीवन) और चेतना अमूर्त हैं; ब्रह्म इन दोनों से भी रहित है। प्राण और मन जहां कहीं दीखते हैं, प्रकृति के संग दीखते हैं; ब्रह्म विशुद्ध है। अन्तिम वाक्य में कहा है कि ब्रह्म अक्षर से भी परे (या महान) है। इस कथन से स्पष्ट हो जाता है कि सृष्टि का वर्णन करते हुए, उपनिषद में 'अक्षर' को अव्यक्त या मूल प्रकृति के अर्थ में लिया है।

ब्रह्म के विशेषणों की बाबत कह कर, आगे उसकी रचना का वर्णन करते हैं।

हम अपनी हालत में चेतन और अचेतन का संयोग देखते हैं। इसी उपमा की नींव पर विश्व को ब्रह्म का शरीर बताया है।

एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च।
खं वायुर्ज्योतिरापः पृथवी विश्वस्य धारिणी ॥३॥
अग्निर्मूर्द्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ
दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः।
वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी
ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा ॥४॥
तस्मादग्निः समिधो यस्य सूर्यः
सोमात्पर्जन्यः ओषधयःपृथिव्याम्।
पुमान् रेतः सिंचति योषितायां
बह्वीः प्रजाः पुरुषात्संप्रसूताः ॥५॥

(३) 'इस (ब्रह्म) से प्राण (जीवन), मन, और सब इन्द्रियां उत्पन्न हुईं; इसी से आकाश, वायु, अग्नि, जल और सबको धारण करने वाली पृथिवी उत्पन्न हुई।'

(४) 'द्युलोक इसका मस्तक है, चन्द्र और सूर्य इसकी आंखें हैं, दिशायें इसके श्रोत्र हैं, वेद इसकी फैली हुई वाणी हैं, वायु इसका प्राण है, विश्व इसका हृदय है, पृथिवी इसके दोनों पांव हैं। निश्चय यह सब भूतों का अन्तरात्मा है।'

(५) 'उससे अग्नि उत्पन्न हुई, जिस (अग्नि) की समिधा सूर्य है। चन्द्रमा से मेघ बने, उससे भूमि में वनस्पतियां हुईं। पुरुष स्त्री में वीर्य को सींचता है। इस तरह, नाना प्रकार की प्रजायें उस (परम) पुरुष से पैदा हुईं।'

श्लोक ३ में रचना में ५ महाभूतों का जिक्र किया है। जगत में चेतन प्राणियों का विशेष स्थान है। इनके शरीर में महाभूतों के अतिरिक्त प्राण (जीवन) और मन भी विद्यमान हैं। बाह्य पदार्थों से व्यक्ति का सम्पर्क उसकी इन्द्रियों की क्रिया का फल होता है; ज्ञानेन्द्रियों के प्रयोग से वह बाह्य पदार्थों के स्वरूप को जानता है; कर्मेन्द्रियों के प्रयोग से वह उन्हें अपने काम में लाता है। मन का काम ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों के काम का एकीकरण करना है।

श्लोक ४ में विश्व को ब्रह्म के शरीर के रूप में देखा है, और इसके प्रसिद्ध भागों को मनुष्य के अंगों से उपमा दी है।

श्लोक ५ में मनुष्य को विचार का विषय बनाया है। प्रत्येक मनुष्य दो अन्य मनुष्यों—पुरुष और स्त्री—के समागम से उत्पन्न होता है। पुरुष का वीर्य उसके शरीर का तत्व है। पुरुष का जीवन खाद्य पदार्थों के सहारे कायम रहता है। सजीव प्रकृति अजीव प्रकृति को अपना आहार बना सकती है; पशु-पक्षियों और मनुष्यों में यह क्षमता नहीं होती। वे सजीव प्रकृति (वनस्पति आदि) पर ही गुजारा कर सकते हैं। वनस्पति वर्षा का फल है। वर्षा से जो जल नीचे गिरता है, वह समुद्र से सूर्य के ताप के कारण ऊपर पहुँचता है। सूर्य उसे भाप के रूप में ऊपर तो ले जाता है, परन्तु उस भाप को फिर जल में बदल देना सूर्य का काम नहीं; यह शीतकर चन्द्रमा का काम है। जीवन

का अन्तिम आधार सूर्य का तेज है। सूर्य को श्लोक में अग्नि की समिधा कहा है; सूर्य जलता हुआ गोला है।

अब फिर श्लोक को पढ़ें।

रचना में अग्नि (एनर्जी) उत्पन्न हुई। सूर्य इस अग्नि की समिधा है। सूर्य पृथिवी से जल को भाप के रूप में उठाता है; वह भाप चन्द्रमा की शीतलता से फिर जल बनकर वर्षा के रूप में गिरती है, और वनस्पति को उत्पन्न करती है। मनुष्य वनस्पति खाकर जीवन कायम रखता है। शरीर के प्रौढ़ होने पर, पुरुष का वीर्य स्त्री के गर्भ में पहुँचता है, और इस तरह अनेक प्रजाएं उत्पन्न होती हैं।

तस्मादृचः सामयजूंषि दीक्षा यज्ञाश्च सर्वे क्रतवो दक्षिणाश्च।
संवत्सरश्च यजमानश्च लोकाः सोमो यत्र पवते यत्र सूर्यः ॥६॥
तस्माच्च देवा बहुधा संप्रसूताः साध्या मनुष्याः पशवो वयांसि।
प्राणापानौ व्रीहियवौ, तपश्च श्रद्धा सत्यं ब्रह्मचर्यं विधिश्च ॥७॥
सप्त प्राणाः प्रभवन्ति तस्मात्, सप्तार्चिषः सप्त समिधः सप्त होमाः।
सप्त इमे लोका येषु चरन्ति प्राणा गुहाशया निहिताः सप्त सप्त ॥८॥

६. 'उस पुरुष से ऋग, साम और यजु (तीन प्रकार के वेदमन्त्र), दीक्षा, सभी यज्ञ, दक्षिणा, काल के अङ्ग और यजमान पैदा हुए; उसी से चंद्र और सूर्य लोक पैदा हुए, जहाँ भले कर्मों का फल मिलता है।'

७. 'उससे अनेक प्रकार के देव, साध्य, मनुष्य, पशु, पक्षी पैदा हुए। उससे प्राण (जीवन) और जीवन-साधन अन्न उत्पन्न हुए। उसी से तप, श्रद्धा, सत्य, ब्रह्मचर्य और कर्म-विधि उत्पन्न हुए।'

८. 'उससे ७ प्राण प्रकट होते हैं, उससे ७ ज्वालायें, ७ समिधायें, ७ होम, ७ लोक हुए, जिनमें सात सात इन्द्रियों में रहने वाले प्राण विचरते हैं।'

श्लोक ६ में कहा है कि ब्रह्म से वेद और वैदिक संस्कार, यज्ञ आदि की उत्पत्ति हुई; उसी की व्यवस्था में पुण्य कर्मों का फल मिलता है।

श्लोक ७ में विविध प्रकार के प्राणियों का जो रचना में विद्यमान हैं, वर्णन किया है। श्लोक के अन्तिम भाग में धार्मिक जीवन के कुछ चिन्हों की ओर संकेत किया है। इनकी बाबत तीसरे मुण्डक में अधिक विस्तार से कहा गया है।

श्लोक ८ में पहले शब्द 'सप्त प्राण' विशेष महत्व रखते हैं; इन पर ही सारे श्लोक का आशय निर्भर है। ७ प्राणों के अतिरिक्त, ७ ज्वालाओं, ७ समिधाओं, ७ होमों और ७ लोकों (निवास स्थानों) का जिक्र हुआ है। आम तौर पर 'प्राण' से 'प्राण', 'अपान', 'व्यान', 'समान', 'उदान' पाँच जीवन शक्तियाँ समझी जाती हैं। उपनिषद् में ७ प्राणों का वर्णन है; इसलिए वहाँ प्राण को उपर्युक्त अर्थ में नहीं लिया गया है। भाष्यकार प्राण को इन्द्रिय के अर्थ में लेते हैं। परन्तु इन्द्रियाँ भी ७ नहीं; ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ पाँच २ हैं। भाष्यकार २ आंखों, २ कानों, २ नासिका छिद्रों और मुख-द्वार में रहने वाली शक्तियों को ७ प्राण कहते हैं। इस समाधान में एक कठिनाई है। साधारण अवस्था में दोनों आँखें एक ही इन्द्रिय की स्थिति में काम करती हैं। इस पर भी विशेष हालतों में यह स्थिति कायम नहीं रहतीं; हम एक ही पदार्थ को दो देखते हैं, या एक आँख उसे एक रूप-रंग में दिखाती है, दूसरी दूसरे रंग-रूप में। कान और नाक की हालत में यह नहीं होता; वे तो एक एक इन्द्रिय ही हैं। इसके अतिरिक्त इस सूची में स्पर्श-इन्द्रिय का जिक्र नहीं होता, और जहाँ तक ज्ञान की निश्चितता का सम्बन्ध है, स्पर्श का स्थान प्रथम है।

क्या यह नहीं हो सकता कि उपनिषद् में ७ स्वतन्त्र इन्द्रियों की ओर संकेत हुआ हो?

पाँच ज्ञान-इन्द्रियों से हमें रूप-रंग, शब्द, गन्ध, रस और ताप आदि का बोध होता है। इनके अतिरिक्त दो अन्य बोध भी आजकल स्वीकार किये जाते हैं:—शरीर-स्थिति का बोध, और तनाव का बोध।

मैं चारपाई पर लेटा हूं, कमरे में अंधेरा है। किसी आहट के बिना चारपाई एक ओर से ऊंची हो जाती है। स्पर्श-बोध में कोई भेद नहीं

हुआ ; शेष ४ इन्द्रियों का भी यहाँ सम्बन्ध नहीं। परन्तु मुझे शरीर के स्थिति-परिवर्तन का ज्ञान हो जाता है। इस बोध की इन्द्रिय कान के अन्दर का भाग है, जिसमें पड़ा तरल मादा अपना स्थान बदलता है। मैं पुस्तक पर हाथ रखता हूं ; फिर पुस्तक हथेली पर होती है। स्पर्श में भेद नहीं हुआ, परन्तु दूसरी हालत में पट्ठों पर बोझा पड़ा है, और मुझे उसका बोध हुआ है। अब ५ प्रसिद्ध ज्ञानेन्द्रियों के अतिरिक्त स्थिति-बोध और तनाव-बोध की इन्द्रियाँ भी स्वीकृत हो गयी हैं। इन्द्रियों के प्रश्न को यहीं छोड़ कर, ज्वाला, समिधा, होम और स्थान की बाबत विचार करें।

प्रत्येक संवेदन 'इन्द्रिय' और 'विषय' के सम्पर्क का फल होता है। मैं फूल को देखता हूं। थोड़ी देर पहले भी मैं वहीं था, जहाँ अब हूं ; और फूल भी वहीं था, जहाँ अब है, परन्तु मैं उसे देखता नहीं था। देख सकने में और देखने में बहुत भेद है। सम्भावना वास्तविकता में तभी परिणत होती है, जब देखने की शक्ति क्रियाशील हो जाय, और दृष्टि का विषय उसके स्पष्ट सम्पर्क में आजाय। क्रियाशील शक्ति को 'ज्वाला', और दर्शन के विषय को 'समिधा' कहें, तो उनके सम्पर्क से ज्ञानरूपी 'होम' होता है।

इस सम्पर्क का अर्थ क्या है ?

मैं कहता हूं, मैं फूल को देखता हूं। इस देखने में क्या कुछ हुआ है ? प्रकाश की किरणें फूल पर पड़ती हैं। श्वेत प्रकाश वास्तव में कई रंगों का समन्वय होता है। इनमें से कुछ रंगों को फूल, अपनी बनावट के कारण, जज़्ब कर लेता है, शेष रंगों की तरंगें उससे पलट कर मेरी आँख की पुतली पर आ लगती हैं। वहाँ से गुजर कर रैटिना पर जा पड़ती हैं। वहाँ से दर्शन-तन्तु में गुज़रती हुई मस्तिष्क के एक भाग में जाकर कुछ हरकत करती हैं। मन पिछले अनुभव की नींव पर इस हरकत का समाधान करता है। यह समाधान ही फूल को पहिचानना है। जब पक्षी शब्द करता है, तो तरंगें वायुमण्डल में से गुजर कर कान की गोलक पर लगती हैं, और वहां से श्रवण-तन्तु में गुज़रती हुई मस्तिष्क के एक अन्य भाग पर जा पहुँचती हैं। प्रत्येक इन्द्रिय से जो तरंग चलती हैं, वे अपने तन्तु से गुज़र कर किसी विशेष क्षेत्र

में जा पहुँचती हैं। यह क्षेत्र उस इन्द्रिय का 'स्थान' है। यदि किसी मुर्गी के मस्तिष्क में दृष्टि-स्थान बिजली से बेकार कर दिया जाय, तो वह बिल्ली के पास खड़ी हुई निश्चिन्त रहेगी; परन्तु बिल्ली के शब्द करने पर भाग जायगी। एक और मुर्गी जिसके मस्तिष्क में श्रोत्र-स्थान को बेकार कर दिया गया है, अन्धेरे में बिल्ली के शब्द से प्रभावित नहीं होगी, परन्तु प्रकाश होते ही घबरा कर भाग जायगी। ज्ञान के सम्बन्ध में मस्तिष्क का यह स्थान महत्वपूर्ण है।

प्रत्येक इन्द्रिय (प्राण) की योग्यता दूसरी इन्द्रियों की योग्यता से भिन्न है; इसका विषय भी उनके विषयों से भिन्न है। आँख फूल को देखती है, सूंघती नहीं; नासिका उसके गन्ध को सूंघती है, उसके रूप को देखती नहीं। समिधायें अलग अलग हैं, ज्वालाएँ अलग अलग हैं; इसके फलस्वरूप होम भी भिन्न हैं; और जैसा कह चुके हैं, बोध का अन्तिम प्राकृत हेतु मस्तिष्क-स्थान भी भिन्न है। यदि ७ इन्द्रियाँ हैं, तो ७ ही ज्वालायें हैं, ७ ही समिधायें हैं, ७ ही होम हैं, और ७ ही स्थान हैं।

खंड के अन्तिम दो श्लोकों में खंड का सारांश फिर कह दिया है।

अतः समुद्रा गिरयश्च सर्वेऽस्मात्स्यन्दन्ते
सिन्धवः सर्वरूपाः।
अतश्च सर्वा ओषधयो रसाश्च
येनैष भूतैस्तिष्ठते ह्यन्तरात्मा ॥९॥
पुरुष एवेदं विश्वं,
कर्म तपो ब्रह्म परामृतम्।
एतद्यो वेद निहितं गुहायां
सोऽविद्याग्रन्थिं विकिरतीह सोम्य ॥१०॥

(९) 'इसी पुरुष से सारे समुद्र और पर्वत प्रकट होते हैं; उसी से सर्व प्रकार की नदियाँ बहती हैं। उसी से सब ओषधियाँ प्रकट होती हैं और वह

रस प्रकट होता है, जिससे ५ भूतों के साथ यह अन्तरात्मा स्थित रहता है।'

(१०) 'पुरुष ही यह सब है (सारा विश्व परम पुरुष का ही प्रकाश है)—कर्म, तप, वेदज्ञान और परम अमृत। प्यारे ! जो कोई हृदय में स्थित पुरुष को जानता है, वह इस जीवन में ही अविद्या की ग्रन्थियों को तोड़ देता है।'

जर्मनी के प्रसिद्ध दार्शनिक कांट ने कहा था कि दो वस्तुएं मनुष्य के मन को श्रद्धामय भय से भर देती हैं—ऊपर तारों भरा आसमान, और अंदर नैतिक नियम। ऊपर के दोनों श्लोकों में इसी प्रकार का भाव दिखाई देता है। श्लोक ६ में कहा है—बाहर की ओर देखो, तुम्हें ईश्वर की महिमा दिखाई देगी; श्लोक १० में कहा है— ब्रह्म तुम्हारे हृदय की गुहा में छिपा है; वहां देखो।

खंड २

आविः सन्निहितं गुहाचरं नाम,
महत्पदमत्रैतत् समर्पितम्।
एजत्प्राणन्निमिषच्च, यदेतज्जानथसदसद्वरेण्यं,
परं विज्ञानाद्यद्वरिष्ठं प्रजानाम् ॥१॥

(१) 'ब्रह्म (जगत में) व्यक्त है; वह निकट है—हृदय गुहा में स्थित है; वह परमधाम है। जो कुछ गति करता है, जो कुछ जीवित है, जो कुछ आंख बन्द करता है—सभी उसी पर आश्रित हैं। वह दृष्ट और अदृष्ट में ग्रहण करने योग्य है; वह सर्व श्रेष्ठ है; मनुष्यों के ज्ञान से परे है। उसे जानो।'

इस श्लोक में फिर मौलिक सिद्धांत को दुहराया है—ब्रह्म बाह्य जगत में प्रकट है, और मनुष्य के हृदय में भी विद्यमान है। 'वह परमधाम है।'

मनुष्य का सारा यत्न ब्रह्म-प्राप्ति के लिये है, ब्रह्म परमधाम है। यह उपनिषद का आशय है, परन्तु कुछ विचारक इन शब्दों में एक और आशय को भी देखते हैं। संसार में गति, परिवर्तन सब से प्रसिद्ध चिह्न है। इस गति का आरम्भ कैसे हुआ? आस्तिकवाद के अनुसार आरंभिक गति परमात्मा की देन थी। अरस्तु पीछे की ओर नहीं, अपितु आगे की ओर देखता है। गति में गतिशील पदार्थ कभी पीछे से धकेला जाता है, कभी आगे से आकर्षित होता है। सुन्दर वस्तु को देख कर हम विवश उसकी ओर खिंचे जाते हैं। अरस्तु के विचार में संसार इसी तरह परमात्मा की ओर खिंचा जा रहा है; वह मनुष्य का ही नहीं, समस्त विश्व का परम धाम है।

सांसारिक पदार्थों की तीन प्रसिद्ध श्रेणियाँ हैं—बेजान पदाथ, जीवित पदार्थ और चेतन पदार्थ। उपनिषद ने इन्हें गति करने वाला, प्राण लेने वाला, और आंख झपकने वाला कहा है। तीनों प्रकार के पदार्थ परमात्मा पर ही आश्रित हैं। जगत में एक भाग दृष्ट (स्थूल) है, दूसरा अदृष्ट (सूक्ष्म) है। अन्त में कहा है कि परमात्मा को जानना चाहिये; इससे ज़रा पहले कहा है कि वह मनुष्यों के ज्ञान से परे है। मनुष्यों का साधरण ज्ञान प्रत्यक्ष और प्रत्यक्ष पर आधारित अनुमान होता है। ऐसा ज्ञान ब्रह्म तक पहुंच नहीं सकता। फिर ब्रह्म को कैसे जानें? इसकी बाबत अगले श्लोकों में कहा है।

यदर्चिमद्यदणुभ्योऽणु च यस्मिंल्लोका
निहिता लोकिनश्च।
तदेतदक्षरं ब्रह्म, स प्राणस्तदु वाङ्मनः
तदेतत्सत्यं तदमृतं तद्वेद्धव्यं सोम्य विद्धि ॥२॥

धनुर्गृहीत्वौपनिषदं महास्त्रं
शरं ह्युपासा निशितं संधयीत।

आयम्य तद्भावगतेन चेतसा
लक्ष्यं तदेवाक्षरं सोम्य विद्धि ॥३॥

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते ।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत् ॥४॥

यस्मिन् द्यौ पृथिवी चान्तरिक्षमोतं
मनः सह प्राणैश्च सर्वैः ।
तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या
वाचो विमुंचथ अमृतस्यैष सेतुः ॥५॥

(२) 'परमात्मा प्रकाशमय है; वह सूक्ष्म से सूक्ष्म है और उसमें सारे लोक और लोकवासी स्थित हैं। वह अविनाशी ब्रह्म है; जीवन, वाणी और मन उस पर आश्रित हैं। वह सत्य और अमृत है। सो प्यारे ! वह बेधने योग्य है, ऐसा जान।'

(३) 'प्यारे ! उपनिषदरूपी महाअस्त्र को धनुष बना; उसमें उपासना से तीक्ष्ण किये हुए बाण को चला। ब्रह्म में लीन चित्त से तीर को खींच कर, अविनाशी ब्रह्म लक्ष्य को बींध।'

(४) 'प्रणब (ओम्) धनुष है, आत्मा बाण है, ब्रह्म लक्ष्य कहा जाता है। उसे प्रमादरहित होकर बींधना चाहिए। जिस तरह तीर लक्ष्य को बींधने पर लक्ष्यरूप ही होजाता है, उसी तरह उपासक भी ब्रह्म में लीन होजाय।'

(५) 'इस ब्रह्म में द्युलोक, पृथिवी और अन्तरिक्ष ओतप्रोत हैं, इसमें सभी प्राणों के साथ मन भी ओत है। उसी एक आत्मा को जानो। अन्य सब वाणियों (शब्दों) को छोड़ो; यह आत्मा ही अमृत को पहुँचने के लिये पुल है।'

इन श्लोकों में ब्रह्म-प्राप्ति के साधनों का वर्णन है। पहला साधन तो यह है कि मनुष्य इस लक्ष्य की कीमत को समझे और लक्ष्य तक पहुंचने के

लिए उत्सुक हो। वह उपनिषद रूप महाअस्त्र को कमान बनाये, और उसमें उपासना से तीक्ष्ण किये हुए तीर को चढ़ाये। एकाग्र चित्त होकर, ब्रह्मरूपी लक्ष्य को बींधने का यत्न करे; इस उद्देश्य के साथ कि लक्ष्य का अंश ही बन जाय—दोई का भाव ही जाता रहे। उपासना के लिए कहा है कि ॐ का जाप और ध्यान ही लक्ष्य-सिद्धि के लिए उपयोगी साधन है। आजकल बहुतेरे लोग समझते हैं कि उपासना में इतना ही आवश्यक है कि किसी विषय पर ध्यान जमाया जाय। जाप के लिये राम, कृष्ण आदि किसी नाम को ग्रहण कर लेते हैं। उपनिषदों में साम्प्रदायिकता का चिन्हमात्र भी नहीं। यहाँ उपनिषद में स्पष्ट शब्दों में कहा है कि उपासना का विषय केवल परमात्मा है, और जाप के लिए ओंकार अकेला नाम है; अन्य वाणियों, नामों को त्याग देना चाहिये। परमात्मा की उपासना ही भवसागर से पार होने के लिये अकेला पुल है।

अरा इव रथनाभौ संहता यत्र नाड्यः
स एषोऽन्तश्चरते बहुधा जायमानः।
ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानं स्वस्ति
वः पाराय तमसः परस्तात् ॥६॥
यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्यैष महिमा भुवि
दिव्ये ब्रह्मपुरे ह्येष व्योम्न्यात्मा प्रतिष्ठितः।
मनोमयः प्राणशरीरनेता
प्रतिष्ठितोऽन्ने हृदयं संनिधाय।
तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीराः
आनन्दरूपममृतं यद् विभाति ॥७॥
भिद्यते हृदयग्रंथिश्छिद्यन्ते सर्व संशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥८॥

६. 'जहाँ, रथनाभि में अरों के समान, नाड़ियाँ जा मिलती हैं (हृदय गुहा में), वहाँ यह आत्मा अनेक प्रकार से प्रकट होता है। 'ओम्' नाम से उस आत्मा का ध्यान करो। तुम्हारा कल्याण हो; तुम अन्धकार सागर से पार हो जाओ!'

७. 'जो सब कुछ जानता है, सब का साक्षी है, जिसकी महिमा भूमि पर है, जो हृदय गुहा, ब्रह्मपुरी में विद्यमान है; यह मनोमय (चेतन) है, प्राण और शरीर का नेता है; प्रकृति में मौजूद है। धीरजन ध्यान योग से उस आनन्दरूप, अमृत, प्रकाशवान ब्रह्म को देखते हैं।'

८. 'जब दूर से दूर और निकट से निकट प्रभु का ज्ञान हो जाता है, तो हृदय की ग्रन्थियाँ खुल जाती हैं और सारे संशय नष्ट हो जाते हैं। ऐसे मनुष्य के कर्म क्षीण [अफल] हो जाते हैं।'

उपनिषदों में अनेक स्थलों पर हृदय को जीवात्मा और परमात्मा का स्थान बताया गया है। परमात्मा सर्वव्यापक है, और जीवात्मा भी व्यक्ति के सारे शरीर में विद्यमान प्रतीत होता है। इन दोनों को हृदय गुहा के साथ विशेष रूप से सम्बद्ध करने का अर्थ क्या है?

एक बात स्पष्ट है कि परम आत्मा और जीव आत्मा—दोनों को एक साथ रखा जाता है। जीव आत्मा के शरीर के विशेष भाग में होने, या समस्त शरीर में व्यापने का प्रश्न उठता है। पश्चिम में गौरव का स्थान मस्तिष्क (दिमाग़) को मिलता है; हमारे यहाँ यह प्रतिष्ठा हृदय को मिलती है। जब हम बोलचाल में किसी मनुष्य की प्रशंसा करते हैं, तो उसके सिर (दिमाग़) और हृदय के गुणों की बाबत कहते हैं। दिमाग़ का सम्बन्ध ज्ञान से और हृदय का भाव से अधिक समझा जाता है। सम्भव है इस भेद के कारण ज्ञान को प्रथम स्थान देने वालों ने मस्तिष्क को, और भाव को यह पद देने वालों ने हृदय को जीवात्मा का स्थान स्वीकार किया हो।

भारत में हृदय को जीवात्मा का स्थान समझा गया है; इसके फलस्वरूप परमात्मा के लिए भी यही स्थान है।

इस प्रश्न पर कुछ प्रकाश कांट ने भी डाला है। कांट की दो प्रमुख पुस्तकें 'विशुद्ध बुद्धि की आलोचना' और 'व्यावहारिक बुद्धि की आलोचना' हैं। पहली आलोचना में उसने कहा है कि बुद्धि परमात्मा के अस्तित्व की बाबत कुछ निश्चय से बता नहीं सकती—यह इस प्रश्न को खुला छोड़ती है; दूसरी आलोचना में उसने कहा है कि व्यावहारिक बुद्धि मनुष्य को 'निरपेक्ष आदेश' के अधीन बताती है, और नीति के अस्तित्व के लिए जो मौलिक सिद्धान्त मान्य हैं, परमात्मा का अस्तित्व उनमें एक है। कांट के विचार में परमात्मा का बोध बुद्धि से नहीं होता, ज़मीर (कान्शैन्स) से होता है। यह धारणा उपनिषद के इस कथन के बहुत निकट है कि परमात्मा का दर्शन हृदय गुहा में करना चाहिए।

दिमाग़ और दिल में प्रथम पद किसी का हो, दोनों का महत्व तो असंदिग्ध ही है। श्लोक ८ में ब्रह्मज्ञान के दो फलों की ओर संकेत किया है:—

१. हृदय की ग्रन्थियां खुल जाती हैं।

२. सभी संशय निवृत्त हो जाते हैं।

यह ग्रन्थियां क्या हैं? मुण्डक उपनिषद में इनके स्वरूप की बाबत कुछ नहीं कहा; अन्य उपनिषदों में भी कुछ नहीं कहा। नवीन काल में सिग्मांड फ़्रायड ने इन्हें अपनी खोज का विषय बनाया, और अब ये मनोविज्ञान में एक प्रमुख विचार-विषय बन गयी हैं। अंग्रेजी में ग्रन्थि के लिये 'कम्प्लैक्स' शब्द का प्रयोग होता है। 'कम्प्लैक्स' ऐसे विचारों का समूह है, जो भाव में सोखे हैं, और अश्लील होने के कारण चेतना के अज्ञात-भाग में दबा दिये गये हैं। उनकी स्थिति ऐसे प्राणियों की है जिन्हें कबर में दबा दिया गया है, परन्तु मरे नहीं। वे व्यक्ति की याद में नहीं रहते, और अनेक प्रकार से उसे बेचैन और दुखी करते रहते हैं। उनसे छुटकारा पाने का एक ही उपाय है—कोई विशेषज्ञ उन्हें पहिचान कर अज्ञात से ज्ञात भाग में खींच लाता है। इसे ग्रन्थि का खुलना कहते हैं। ग्रन्थि के खुलने पर रोगी का रोग और कष्ट दूर हो जाते हैं।

उपनिषदों में ग्रन्थि के खुलने का अर्थ किसी दुखद पेचीदगी का दूर होना है।

अब संशय की बाबत देखें:—

मनुष्य की साधारण अवस्था विश्वास की अवस्था है। विश्वास क्रिया की नींव है। मैं बाहर घूमने जाता हूं। मार्ग पर एक सांप बैठा है। मैं एक ओर से होकर गुजर जाता हूं; और मार्ग तंग हो, तो पीछे हट जाता हूं। सम्भव हो तो उसे समाप्त करना चाहता हूं। मेरी क्रिया मेरे विश्वास पर निर्भर है। वास्तव में वहां सांप न हो, तो भी मेरी क्रिया वैसी ही होगी। किसी मनुष्य को मूर्छित करके उसे कहें कि वह बिल्ली है, तो वह इसे स्वीकार करके बिल्ली का व्यवहार करने लगेगा। हमारे विश्वासों में कई विश्वास अयथार्थ होते हैं। जब हमें इनकी अयथार्थता का ज्ञान होता है, तो हम उनके स्थान में किसी यथार्थ विश्वास को अंगीकार करना चाहते हैं। हमारी प्रवृत्ति अविश्वास की अवस्था को समाप्त करने की होती है। किसी त्याज्य विश्वास के स्थान में किसी स्वीकार करने योग्य विश्वास का ढूंढ़ना ही चिन्तन है। संशयों का निवृत्त होना उतना ही महत्वपूर्ण है, जितना भाव के लिये हृदय ग्रन्थियों का खुलना है।

हिरण्मये परे कोशे विरजं ब्रह्म निष्कलम् ।
तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तद्यदात्मविदो विदुः ॥९॥
न तत्र सूर्य्यो भाति न चन्द्रतारकं
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः ।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥१०॥
ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद् ब्रह्म पश्चाद्
ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण ।

अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं

विश्वमिदं वरिष्ठम् ॥११॥

(९) 'ब्रह्म निर्मल और निराकार है, वह शुद्ध है और ज्योतियों की ज्योति है। आत्मज्ञानी पुरुष उसे प्रकाशमय अन्तिम कोश में देखते हैं।'

(१०) 'वहां न सूर्य प्रकाशित होता है, न चन्द्र और तारे प्रकाशित होते हैं, वहां बिजली प्रकाशित नहीं होती, यह अग्नि तो क्या होगी? जब वह (ब्रह्म) प्रकाशमान होता है, उसके पीछे ये सब प्रकाशित होते हैं। उसके प्रकाश से ही यह सब प्रकाशित होता है।'

(११) यह अमृतरूप ब्रह्म है; ब्रह्म आगे है, ब्रह्म पीछे है, ब्रह्म दाईं ओर है, ब्रह्म बाईं ओर है, ब्रह्म नीचे है, ब्रह्म ऊपर है। यह विश्व, यह श्रेष्ठ ब्रह्म (का चमत्कार) ही है।'

श्लोक ९ में परमात्मा के विशेषणों में उसे 'ज्योतियों की ज्योति' कहा गया है। श्लोक १० इसी का व्याख्यान है। यह भी कहा है कि परमात्मा के दर्शन हिरण्यमय अंतिम कोश में होते हैं। उपनिषदों में ५ कोशों का वर्णन है : अन्नमय कोश, प्राणमय कोश, मनोमय कोश, विज्ञानमय कोश और आनंदमय कोश। विश्व में जो कुछ है, वह इनके अंतर्गत आ जाता है। मनुष्य विश्व का संक्षेप है; उसमें भी यह पांचों कोश विद्यमान हैं। विश्व को लें। इसमें:—

अन्नमय कोश बेजान प्रकृति है।

प्राणमय कोश सजीव प्रकृति है।

मनोमय कोश चेतना है। यह मनुष्यों के अतिरिक्त पशु, पक्षियों और कीट पतंगों में भी पाई जाती है।

विज्ञानमय कोश में बुद्धिवंत प्राणी अर्थात् मनुष्य आते हैं।

आनंदमय कोश बुद्धि से भी परे है। यह उन प्राणियों का स्थान है, जिनके सारे दोष नष्ट हो चुके हैं।

ऊपर कह चुके हैं कि ब्रह्म के दर्शन के लिए तीव्र बुद्धि की अपेक्षा पवित्र हृदय अधिक सहायता देता है। इसी ख्याल को जाहिर करने के लिए यहां कहा है कि परमात्मा को अंतिम कोश में देखना चाहिये ।

श्लोक १० में कहा है कि विश्व में जितने प्रकाश देने वाले पदार्थ हैं, वह साकार वस्तुओं को दिखा सकते हैं; उन्हें प्रकाश ब्रह्म से मिलता है, वह ब्रह्म को क्या दिखायेंगे ? ब्रह्म का ज्ञान इंद्रियों का विषय नहीं; उसे वह आत्मज्ञानी ही जान सकता है, जिसने उपयोगी साधना द्वारा आनंदमय कोश में प्रवेश कर लिया है ।

इस श्लोक में जो विचार व्यक्त किया गया है, वह उपनिषदों में बहुत प्रसिद्ध है। यही श्लोक कठ उपनिषद (५ : १५) और श्वेताश्वतर उपनिषद (६ : १४) में मिलता है। संभव है, तीनों में उद्धरण ही हो।

अंतिम श्लोक में कहा है कि ब्रह्म अमर है, और सर्व व्यापक है। विश्व में जो कुछ है, देश और काल की सीमाओं में है; ब्रह्म इन दोनों से परे है।

उसे जानने के लिये हम बाह्य महानता को देखते हैं, या पवित्रता का चिन्तन करते हैं। दोनों (विश्व और पवित्रता) ब्रह्म का प्रकाश ही हैं, मानों ब्रह्म ही हैं।

तीसरा मुण्डक

पहला खण्ड

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया
समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्नन्नन्यो
अभिचाकशीति ॥१॥

समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया
शोचति मुह्यमानः ।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य
महिमानमिति वीतशोकः ॥२॥

यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं
कर्त्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम् ।
तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय
निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति ॥३॥

प्राणो ह्येष यः सर्वभूतैर्विभाति
विजानन् विद्वान् भवते नातिवादी ।

आत्मक्रीड आत्मरतिः क्रियावानेष

ब्रह्मविदां वरिष्ठः ॥४॥

(१) 'दो पक्षी हैं; वे परस्पर प्रेमी और सखा हैं, और एक ही वृक्ष पर बैठे हुए हैं। उनमें से एक वृक्ष के स्वादिस्ट फलों को खाता है, और दूसरा न खाता हुआ केवल देखता है।'

(२) 'उस एक ही वृक्ष पर, पुरुष (जीवात्मा) फल चखने में निमग्न, अपनी दुर्बलता से मोह में पड़ा शोक करता है। जब वह अपने से भिन्न दूसरे (ईश्वर) को और उसकी महिमा को देखता है, तो शोक से मुक्त हो जाता है।'

(३) 'जब देखने वाला प्रकाशमान, जगत के कर्त्ता, शक्तिमान, ज्ञान के स्रोत पुरुष (परमात्मा) को देखता है, तो वह विद्वान, पुण्य और पाप से विमुक्त, निर्मल हुआ, परम साम्य को प्राप्त होता है।'

(४) 'निश्चय यह प्राण (प्राणाधार=ब्रह्म) सब भूतों में प्रकट हो रहा है। ऐसा जानता हुआ ज्ञानी पुरुष कटुवादी नहीं होता। वह आत्मा में क्रीड़ा करता है, आत्मा को ही प्रेम का विषय बनाता है। ऐसा क्रियावान पुरुष ब्रह्मज्ञानियों में श्रेष्ठ है।'

पहले मुण्डक में ब्रह्मांड विचार का प्रमुख विषय था; दूसरे मुण्डक में ब्रह्म ऐसा विषय था। तीसरे मुण्डक में उपनिषदकार का ध्यान मानव की ओर फिरता है।

मानव के सम्बन्ध में प्रथम प्रश्न विश्व में उसकी स्थिति का है। प्रकृतिवाद चेतना को प्रकृति का एक प्रकटन बताता है; ब्रह्मसर्ववाद के अनुसार जीवात्मा की स्थिति ब्रह्म के बिम्ब की है। उपनिषद में इन दोनों विचारों को अस्वीकार किया है, और ब्रह्म, जीव और प्रकृति तीनों के स्वतन्त्र अस्तित्व का प्रतिपादन किया है।

खंड का पहला श्लोक ऋग्वेद का एक मन्त्र (१ : १६४ : २०) है; दूसरा श्लोक उसी का व्याख्यान है।

वेद मंत्र में कहा है कि जीवात्मा और परमात्मा दोनों प्राकृत जगत रूपी वृक्ष पर स्थित हैं। वह दोनों आत्मा होने के कारण साथी और सखा हैं। आत्मा को पक्षी से उपमा दी गई है। उपमा में सम्पूर्ण समानता तो होती नहीं, प्रसंग के अनुसार आंशिक समानता होती है। आत्मा की उपमा अनात्मिक जगत में ढूढ़ं, तो पक्षी हमारे ध्यान में आता है; वह दिव्य पदार्थ नहीं, परन्तु प्राणियों में वही पृथ्वी से ऊपर उठकर द्यु लोक की ओर जा सकता है। वायुमंडल में तैरता है, तो ऐसा प्रतीत होता है कि आकर्षण नियम उस पर लागू ही नहीं होता।

परमात्मा और जीवात्मा दोनों आत्मा हैं, परन्तु उनमें भेद है। हम अपनी चेतना में तीन पक्ष देखते हैं—ज्ञान, भाव और क्रिया। इन तीनों में चेतन का सम्बन्ध किसी विषय से होता है। ज्ञान में, ज्ञाता और ज्ञेय का सम्पर्क मात्र होता है; भाव में चेतना का विषय भोक्ता की स्थिति में परिवर्तन कर देता है; क्रिया में कर्त्ता विषय में तबदीली करता है। मैं पुस्तक में साँप का चित्र देखता हूं; यहीं मामला समाप्त हो जाता है। यदि मैं साँप के चित्र को नहीं, अपितु साँप को अपने निकट देखता हूं, तो घबरा जाता हूं। साँप की अवस्था में परिवर्तन नहीं होता, परन्तु मेरी हालत तो पहली सी नहीं रहती। जब मैं साँप को पत्थर से घायल करता हूं, तो मेरी क्रिया क्रिया के विषय को बदल देती है। इन तीनों पक्षों में भाव निर्बलता का फल और चिन्ह है। ज्ञान और क्रिया दोनों साथ चलते हैं। वेद मंत्र में परमात्मा और जीवात्मा में भेद करते हुए कहा है कि जीव में भाव प्रधान अंश है और परमात्मा में यह अंश विद्यमान नहीं : जीव वृक्ष के स्वादिष्ट फल खाता है; परमात्मा केवल देखता है।

दूसरे श्लोक में इसी विचार को आगे बढ़ाया है। मनुष्य स्वभाव से मीठे फलों को खाना चाहता है; परन्तु जिस दुनिया में वह रहता है, उसमें सारे फल मीठे ही नहीं। कुछ मीठे फल ऐसे भी होते हैं, जो अन्तिम चूस में कड़ुआ स्वाद दे जाते हैं। मनुष्य के वश में हो, तो वह सदा सुख को ही भोगे, परन्तु वह अशक्त है, और अपनी निर्बलता के बोध से अधिक दुखी

होता है। जब वह अपने साथी को और उसकी महिमा या शक्ति को देखता है, तो उसका शोक दूर हो जाता है। क्यों ? इसलिये कि उसे दुख और शोक से विमुक्त होने का रहस्य विदित हो जाता है। वह जान लेता है कि भाव के प्रभाव में वह विचलित होता है; यदि वह विषयों के पीछे न भागे तो उसके संतुलन के भंग होने का अवकाश ही न रहेगा। वह कर्म करता है, परन्तु कर्मबन्धन से छूट जाता है; कर्मफल से ऊपर उठता है। उपनिषद् में जो यह कहा है कि वह पुण्य और पाप दोनों से विमुक्त हो जाता है, इसका अभिप्राय यही है कि वह पुण्य कामों को भी कामना के वश में नहीं करता। जो कर्म निष्काम भाव से किया जाता है, वह बाँधता नहीं। इसी बात को कहते हुये जर्मनी के दार्शनिक कांट ने कहा है कि नैतिक व्यवस्था में पुण्य और सुख एक साथ जाते हैं, परन्तु भला पुरुष अपना कर्तव्य करने में कर्मफल का ध्यान नहीं करता।

श्लोक ४ में कहा है कि जो मनुष्य ब्रह्म को सब भूतों का अन्तरात्मा समझ लेता है, उसका व्यवहार बदल जाता है। दूसरे लोगों के सम्बन्ध में हमारा व्यवहार अप्रिय होता है, क्योंकि हम अपने हित में और उनके हित में विरोध देखते हैं। जिन बाह्य पदार्थों में हमें अनुराग है, उनमें ही अन्य मनुष्यों को भी अनुराग है, और दुर्भाग्य से उनकी मात्रा सीमित है। जो पुरुष बाह्य पदार्थों के स्थान में आत्मा को ही अनुराग का विषय बनाता है; उपनिषद के शब्दों में, आत्मा में ही खेलता है, आत्मा से ही प्रेम करता है, उसके लिये दूसरों से किसी प्रकार की स्पर्धा का कारण ही नहीं रहता। ऐसा ही पुरुष परम साम्य को प्राप्त करता है, और काम करता हुआ भी ब्रह्मज्ञानियों में श्रेष्ठ है।

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा
सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्य्येण नित्यम्।
अन्तःशरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो
यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः ॥५॥

सत्यमेव जयते नानृतं सत्येन
पन्था विततो देवयानः ।
येनाक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा यत्र
तत्सत्यस्य परमं निधानम् ॥६॥

(५) 'यह आत्मा सत्य से, तप से, यथार्थ ज्ञान से और नित्य-ब्रह्मचर्य से प्राप्त किया जाता है। यह ज्योतिर्मय और शुद्ध आत्मा शरीर के अन्दर स्थित है। जिन लोगों के दोष दूर हो गये हैं, वही यति उसे देखते हैं।'

(६) 'सत्य की ही जय होती है, झूठ की नहीं होती। सत्य से ही देवयान (भले पुरुषों का मार्ग) खुलता है; इसी मार्ग पर पूर्णकाम ऋषि आगे बढ़ते हैं; जो स्थान इस यात्रा का गन्तव्य है, वह भी सत्य का परमधाम है।'

ब्रह्मज्ञान की महिमा बहुत बड़ी है: इससे हृदय-ग्रन्थियां खुल जाती हैं; इससे सभी संशय निवृत्त हो जाते हैं; इससे साम्य अवस्था प्राप्त होती है। ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति हो कैसे सकती है? श्लोक ५ में कहा गया है कि यह ज्ञान केवल उन लोगों को प्राप्त होता है, जिनके दोष क्षीण हो गये हैं। यह तो प्रश्न को जरा पीछे धकेलना है, दोष कैसे दूर हो सकते हैं? श्लोक के पहले भाग में चार उपायों की ओर संकेत किया है—सत्य, तप, यथार्थ ज्ञान और निर्विघ्न ब्रह्मचर्य।

सत्य में दो बातें आती हैं—

(१) व्यक्ति के विचारों और कथन में अनुरूपता हो,

(२) उसके कथन और आचरण में अनुरूपता हो।

मन, वाणी और क्रिया की एकरूपता का अर्थ यही है कि व्यक्ति जैसा कुछ है, वैसा ही अपने आपको समझे, और दूसरों को प्रतीत हो। जिस मनुष्य की हालत में यह एकरूपता नहीं होती, वह वास्तव में एक मनुष्य होता ही नहीं; एक से अधिक व्यक्ति एक रूप में प्रकट होते हैं। किसी को

निश्चय पता नहीं लगता कि इनमें से किस व्यक्ति से वह निपट रहा है। कुछ कलाकार ऐसे मनुष्यों का चित्र खींचते हैं, जो एक शरीर में दो भिन्न व्यक्ति होते हैं। यह भी स्थिति को बहुत सरल बनाना है; वास्तव में दो से अधिक वासी एक शरीर में वास कर सकते हैं।

झूठे पुरुष के आचरण में विचार और कथन की, कथन और क्रिया की अनुरूपता नहीं होती। इसका बड़ा कारण विषय आसक्ति होता है। विषयों के प्रभाव से बचे रहने का प्रमुख साधन तप है। सोने को अग्नि में डालें, तो उसकी मैल दूर हो जाती है, और वह पहले से अधिक उज्ज्वल दीखता है; मुलम्मा को अग्नि में डालें, तो उसकी ऊपरी तड़क भड़क समाप्त हो जाती है, और वह अपने वास्तविक रूप में दीखने लगता है। उपनिषदों में अनेक स्थलों पर तप की महिमा बयान की गयी है। लौकिक दृष्टिकोण से भी तप जीवन की सफलता में अमूल्य साधन है। विलियम जेम्स ने कहा है कि जीवन में तपस्या का अंश जीवन के बीमा-चन्दा के तुल्य है: जब तक कोई विपत्ति नहीं आती, यह चन्दा निष्प्रयोजन खर्च प्रतीत होता है; विपत्ति आने पर इसकी कीमत मालूम होती है। वर्षा होने पर कच्ची ईंट का क्या बनता है? वही ईंट आग की भट्टी से गुजरने पर वर्षों वर्षा के आक्रमण को सहार सकती है।

'चन्दन गया विदेसड़े, सब कोई कहे पलास।
ज्यों-ज्यों चूल्हें झोंकया, त्यों त्यों अधिकी बास' ॥

ब्रह्मप्राप्ति का तीसरा साधन सम्यग् ज्ञान है। सम्यग् ज्ञान यथार्थ ज्ञान, पूर्ण ज्ञान या उपयोगी ज्ञान है। ब्रह्मज्ञान से हम आरम्भ नहीं कर सकते; इसका अधिकार उज्ज्वल मस्तिष्क से प्राप्त होता है। मनुष्यों में जन्मजात बुद्धि का भेद होता है; उस बुद्धि की सहायता से ज्ञान का सम्पादन करना व्यक्ति के प्रयत्न पर निर्भर होता है। जितना सत्य ज्ञान कोई मनुष्य प्राप्त करता है, उतना ही, अन्य हालात के अभेद होने पर, ब्रह्मविद्या की प्राप्ति उसके लिये सुगम होती है।

अन्त में कहा है कि ब्रह्मप्राप्ति के लिये संयमी जीवन का होना आवश्यक है। हमारे आचरण पर कई प्राकृत उत्तेजनों का प्रभाव पड़ता है। जब यह उत्तेजन स्थायी से बन जायें, और इनका बल बहुत बढ़ जाय, तो इन्हें 'विषय' कहते हैं। इन विषयों में 'काम' को प्रथम स्थान दिया जाता है। कवि कामदेव को अन्धा चित्रित करते हैं। वह आप अन्धा हो या न हो, उन लोगों को जो उससे आक्रान्त होते हैं, निस्सन्देह अन्धा बना देता है। ऐसे लोगों के लिये ब्रह्मज्ञान की कोई संभावना नहीं।

श्लोक में 'नित्य' शब्द को कुछ व्याख्याकार चारों पदों के साथ लगाते हैं ; ऊपर हमने इसे ब्रह्मचर्य के साथ युक्त किया है। जिस पुरुष ने सत्य को अपनाया है, वह एक रंग में रंगा गया है ; जिसने तपस्या की है, उसने भी अपनी आकृति को थोड़ा बहुत स्थाई रूप दे दिया है ; सम्यग् ज्ञान भी हमारी सम्पत्ति बन जाता है। दुर्भाग्य से लैंगिक संयम की बावत यह नहीं कह सकते। यहाँ हमारी स्थिति एक ऐसे यात्री की है जो अति ढालू पहाड़ पर तंग मार्ग से चढ़ रहा है। मीलों चढ़ जाने पर भी यह संभावना बनी रहती है कि उसका पाँव फिसले, और वह खड्ड के तल पर जा पहुँचे। यहाँ निरन्तर सावधानी की आवश्यकता है।

इन चारों साधनों में तप का सम्बन्ध संकल्प से है, ज्ञान का सम्बन्ध बुद्धि से है, ब्रह्मचर्य का सम्बन्ध भावांश से है। यह तीनों चेतना के स्वीकृत पक्ष हैं। सत्य का सम्बन्ध समस्त जीवन से है; सत्य विचार, सत्य भावना और सत्य कर्म तीनों इसके अंतर्गत आते हैं।

ब्रह्म प्राप्ति के साधनों में सत्य को प्रथम स्थान दिया है। श्लोक ६ में सत्य की महिमा ही कही है।

एक महत्वपूर्ण प्रतिज्ञा से श्लोक आरम्भ होता है—'सत्य की जय होती है, असत्य की नहीं होती।' यह विश्वास आस्तिक मनोवृत्ति की नींव है। भला पुरुष किसी स्वीकृत आदर्श के लिए जीता और मरता है। उसे इस घोर संग्राम में इस ख्याल से सहारा मिलता है कि जिस पक्ष के लिये वह

लड़ रहा है, उसी के लिए दैवी शक्तियां भी लड़ रही हैं, और अन्त में उस पक्ष की जय होगी। पारसी मत के संस्थापक जरतुश्त्र के विचारानुसार संसार नेकी और बुराई का निरन्तर संग्राम ही है; इस संग्राम में नेकी की विजय होगी, और ऐसा होते ही संसार का खेल समाप्त हो जायगा। हर्बर्ट स्पेन्सर ने कहा कि संसार की गति ऐसी दिशा में हो रही है कि यात्रा के अन्त में बुराई का अभाव हो जायगा। हेगल के विचार में भी इतिहास बताता है कि संसार की गति प्रगति है।

श्लोक में आगे कहा है कि भले पुरुष की यात्रा में सत्य आरम्भ है, सत्य मध्य है, और सत्य ही अन्त है। सत्य से देवमार्ग खुलता है; सत्य के सहारे ही हम धर्म मार्ग पर चलते रहते हैं, और यात्रा की समाप्ति पर सत्य-धाम में ही पहुंचते हैं। इस श्लोक में दार्शनिक और कवि एक साथ सत्य की महिमा गाते हैं।

बृहच्च तत् दिव्यमचिन्त्यरूपं
सूक्ष्माच्च तत्सूक्ष्मतरं विभाति।
दूरात्सुदूरे तदिहान्तिके च
पश्यत्स्विहैव निहितं गुहायाम् ॥७॥

न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा
नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा।
ज्ञानप्रसादेन विशुद्ध सत्वस्ततस्तु
तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः ॥८॥

एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो
यस्मिन् प्राणः पंचधा संविवेश।

प्राणैश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां
यस्मिन्विशुद्धे विभवत्येष आत्मा ॥९॥
यं यं लोकं मनसा संविभाति,
विशुद्धसत्त्वः कामयते यांश्च कामान् ।
तं तं लोकं जायते तांश्च कामांस्तस्मादात्मज्ञं
ह्यर्चयेद् भूतिकामः ॥१०॥

(७) 'वह ब्रह्म महान है, दिव्य है, और अचिन्त्य रूप है। वह सूक्ष्म पदार्थों से सूक्ष्मतर है। वह दूर से दूर और समीप से समीप है। देखने वालों के लिये वह इस गुहा में ही विद्यमान है।'

(८) 'वह आंख से ग्रहण नहीं होता, न वाणी से, न अन्य इन्द्रियों से जाना जाता है। वह तप और कर्म से भी नहीं मिलता। जिस मनुष्य क बुद्धि ज्ञान के प्रसाद से शुद्ध हो चुकी है, वह ध्यान से उस निराकार क देखता है।'

(९) 'इस अणु आत्मा (सूक्ष्म परमात्मा) को चित्त से, जिसमें ५ प्रकार का प्राण प्रविष्ट है, जानना चाहिये। मनुष्यों का चित्त प्राणों से व्याप्त, ओतप्रोत है,। चित्त के शुद्ध होने पर यह आत्मा अपने आपको व्यक्त करता है।'

(१) 'जिस पुरुष की बुद्धि स्वच्छ हो गई है, वह अवस्थाओं का चिन्तन करता है, और जिन कामनाओं को पूरा करना चाहता है, उन अवस्थाओं और कामनाओं को प्राप्त कर लेता है।'

इसलिये जिस किसी को सिद्धि की इच्छा है, वह तत्वज्ञानी की पूजा करे।'

श्लोक ७ और ८ में फिर ब्रह्म के स्वरूप की बाबत कहा है। ब्रह्म का अर्थ ही महान है। दार्शनिक वृत्ति का उदय चकित होने पर होता है; धार्मिक वृत्ति का उदय अपनी निर्बलता के भास पर निर्भर है। हमारा ज्ञान सीमित है; हमारी शक्ति सीमित है। परमात्मा में यह त्रुटियां नहीं; वह महान है। वह दिव्य (अप्राकृत) है, हम उसके रूप का चिन्तन नहीं कर सकते। वह सूक्ष्म से सूक्ष्म है, दूर से दूर है, और निकट से निकट है। देखने वालों को अन्तर्ध्यान होने की आवश्यकता है; वह हृदय गुहा में मौजूद है।

'ईश्वर तेरे पास वसदा, ढूंढन किथे जावणा ?'

परमात्मा का ज्ञान इन्द्रियों के प्रयोग से नहीं होता; वह दिव्य है, और इंद्रियाँ स्थूल साकार वस्तुओं को ग्रहण करने के करण हैं। कुछ लोग समझते हैं कि शारीरिक तपस्या से उसे पहुंच सकते हैं, कुछ कर्मकांड को पर्याप्त समझते हैं। यह भूल में हैं: तपस्या की कीमत हमारी मनोवृत्ति को बदलने की है; शरीर को कष्ट देना अपने आप में उद्देश्य पूर्ति के लिए मूल्य नहीं रखता। निरा कर्मकांड भी पर्याप्त नहीं। निराकार ब्रह्म के देखने के लिये आवश्यक है कि व्यक्ति ज्ञान के प्रसाद से बुद्धि को शुद्ध करे, और फिर ध्यान में लीन हो जाय।

यह बहुत कठिन काम है। श्लोक ६ में प्रमुख कठिनाई की ओर संकेत किया है। हमारा चित्त ५ प्राणों (इन्द्रियों) से ओतप्रोत है; वह इसे जकड़े रखते हैं। ऊपर जीवात्मा को पक्षी से उपमा दी है। पक्षी आकाश में उड़ सकता है; पशु पृथ्वी पर ही रींगते हैं। परन्तु कभी-कभी पक्षी भी उड़ नहीं सकता। शुतरमुर्ग ने लालच में अपने आपको इतना बड़ा और मोटा बना लिया कि अपने बोझ से उसके पक्ष बेकार हो गये। कुछ पक्षियों को उनके स्वामी पांव में घुंघरू बाँध कर उन्हें पृथ्वी से जकड़ देते हैं। हमारी इंद्रियाँ हमारे चित्त के साथ यही करती हैं। परमात्मा का ध्यान तभी सम्भव हो सकता है, जब चित्त इन्द्रियों की जकड़ से विमुक्त हो जाय। श्लोक ६ में प्रमुख बाधा के साथ उससे छूटने का उपाय भी बताया है।

अंतिम श्लोक में कहा गया है कि विशुद्ध बुद्धि से पुरुष की सभी कामनाएँ पूरी हो जाती हैं। इस बयान में भ्रांति की संभावना है। जो मनुष्य विशुद्ध-बुद्धि बन चुका है, जिसका चित्त इंद्रियों की जकड़ से छूट चुका है, उसकी कामनाएँ चपल और ओछी हो ही नहीं सकतीं। उसकी कामनाएँ दिव्य कामनायें होती हैं, और वह पूरी होती ही हैं।

ऐसे पुरुष की अन्य मनुष्यों के लिए भी बड़ी कीमत है। वह ऐसे सत्कार का पात्र है, जिसके लिये उपनिषद ने पूजा शब्द का प्रयोग किया है।

खण्ड २

स वेदैतत्परमं ब्रह्मधाम
यत्र विश्वं निहितं भाति शुभ्रम् ।
उपासते पुरुषं ये ह्यकामास्ते
शुक्रमेतदतिवर्त्तन्ति धीराः ॥१॥

कामान् यः कामयते मन्यमानः
स कामभिर्जायते तत्र तत्र ।
पर्याप्तकामस्य कृतात्मनस्तु
इहैव सर्वे प्रविलीयन्ति कामाः ॥२॥

(१) 'वह आत्मज्ञानी इस ब्रह्म को, जिसमें सारा विश्व स्थित है और जो शुद्ध प्रकाशित हो रहा है, जानता है। निस्संदेह जो कामना रहित मनुष्य उस परम पुरुष की उपासना करते हैं, वे जन्म मरण के बंधन से छूट जाते हैं।'

(२) 'जो मनुष्य काम्य पदार्थों की कामनाओं में बँधा रहता है, वह उन कामनाओं से खिचा हुआ उन लोकों को ही पहुँच जाता है। जिस आत्म-

ज्ञानी की कामनायें पूर्ण हो चुकी हैं (जिसे अब कोई कामना नहीं), वह इस जन्म में ही कामनारहित हो जाता है।'

इन दो श्लोकों में फिर कहा गया है कि मनुष्य कामनाओं से जकड़ा हुआ आवागमन के चक्र में पड़ा रहता है। वर्तमान जीवन एक लम्बी ज़ंजीर की कड़ी है; पिछले जन्मों के संस्कार इसकी स्थिति को निश्चित करते हैं, और इसकी चेष्टाएँ आगामी जन्म को प्रभावित करेंगी। कुछ विचारक तो कहते हैं कि कामी पुरुष को अपने काम्य भोग के लिये कुत्ते या बन्दर का और लोभी को सुअर का जन्म मिल जाता है। उत्तम कर्म करने वाले भी यदि इन कर्मों को सकाम भाव से करें, तो उन्हें उत्तम गति (स्वर्गवास) तो मिलती है, परन्तु इस भोग की अवधि सीमित होती है, और इसके बीतने पर फिर जन्म-मरण-चक्र लगने लगता है। इस चक्र के छूटने का उपाय ब्रह्म ज्ञान ही है। ब्रह्मज्ञानी इस जीवन में ही पूर्णकाम होने पर जीवन - मुक्त हो जाता है।

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यै
आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम् ॥३॥
नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो
न च प्रमादात्तपसो वाप्यलिङ्गात्।
एतैरुपायैर्यतते यस्तु विद्वांस्तस्यैष
आत्मा विशते ब्रह्मधाम ॥४॥

(३) 'यह आत्मा प्रवचन से प्राप्त नहीं होता, न बुद्धि से, न बहुत सुनने से मिलता है। जो कोई इसे जानने का प्रयत्न करता है, उसे यह प्राप्त होता है।'

(४) 'यह आत्मा बलहीन पुरुष को प्राप्त नहीं होता, न प्रमाद से प्राप्त होता है; यह तप और चिन्ह-त्याग से भी प्राप्त नहीं होता। जो विद्वान् इन त्याग आदि उपायों से लगातार यत्न करते रहते हैं, उन्हें यह प्राप्त होता है, और वे ब्रह्मधाम में प्रवेश करते हैं।'

इन दो श्लोकों में बताया गया है कि ब्रह्म-प्राप्ति किन लोगों की पहुँच से परे है। जीवन में हम आचार और आचरण में भेद करते हैं। इन दोनों में गहरा सम्बन्ध है, परन्तु ये एक नहीं। आचरण दृष्ट है, आचार दृष्ट नहीं। जो कुछ मैं कहता करता हूं, उसे हर कोई देख सकता है, जिस भाव से प्रेरित होकर मैं ऐसा कहता करता हूं, उसका ज्ञान मुझे ही होता है, कभी-कभी मुझे भी नहीं होता। इन श्लोकों में आचार और आचरण दोनों की कुछ ऐसी त्रुटियों की ओर संकेत किया है, जो व्यक्ति को ब्रह्मज्ञान से दूर रखती हैं।

पहले आचरण को लें। आत्म-सिद्धि किसी अन्य मनुष्य की देन नहीं। कोई दूसरा हमें मार्ग बता सकता है, मार्ग पर चलना हमारा काम है। दूसरों का उपदेश हमें यह बता सकता है कि गन्तव्य किधर है, और मार्ग कौन है; गति का यत्न तो हमें अपने आप करना होता है। बुद्धि भी मार्ग को देखती है, परन्तु तर्क में इतनी फंस जाती है कि आगे चलने का अवसर ही नहीं आता। ब्रह्म-प्राप्ति का साधन यह है कि मनुष्य पूरे यत्न से उसमें लग जाये। ऐसा करने पर परमात्मा अपने आप को प्रकाशित कर देता है। श्लोक ३ में ज्ञान की अपेक्षा संकल्प को अधिक महत्व दिया है।

यह श्लोक कठ उपनिषद् (२:२३) में भी आया है।

श्लोक में कहा है—'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः।' इन शब्दों का अर्थ कुछ लोग करते हैं—'यह आत्मा जिसे चुनता है, उसे ही प्राप्त होता है।' स्वामी शंकराचार्य इसके विपरीत अर्थ करते हैं—'यह (साधक) जिस (आत्मा) का वरण करता है, उससे ही प्राप्त किया जाता है।' मैंने ऊपर श्लोक के अर्थ में शंकराचार्य का अनुसरण किया है। आत्मसिद्धि मनुष्य के अपने यत्न का फल है।

श्लोक ४ में आचरण की अपेक्षा आचार पर अधिक ध्यान दिया गया है। यदि ब्रह्म–प्राप्ति व्यक्ति के अपने श्रद्धायुक्त प्रयत्न पर निर्भर है, तो स्वाभाविक ही प्रश्न उठता है कि मनुष्य के चरित्र में कौन से दोष उसे इस यत्न के अयोग्य बना देते हैं ?

यहां कई संभावनाएँ हैं।

प्रथम तो संभव है कि व्यक्ति विशेष में ऐसा यत्न करने की सामर्थ्य ही न हो। यह निर्बलता उसका दुर्भाग्य हो, या उसकी मूर्खता का परिणाम हो, हर हालत में यह उसे इस कठिन क्रिया के अयोग्य बना देती है। यह भी हो सकता है कि किसी मनुष्य में अनिवार्य योग्यता हो, परन्तु वह इसका प्रयोग करने पर उद्यत न हो। जो शक्ति मनुष्य में होती है, वह प्राय: अपने लिये बाहर निकलने का कोई मार्ग ढूंढ लेती है या बना लेती है। अधिक संख्या की हालत में भोग विलास इसे अपनी ओर खींच ले जाते हैं और आत्मसिद्धि के लिये कुछ बच नहीं रहता। इस त्रुटि को उपनिषद में 'प्रमाद' का नाम दिया है। यह दो अधम श्रेणियाँ हैं। एक में शक्ति है ही नहीं, दूसरी इसका दुरुपयोग करती है। अब अच्छी श्रेणियों की ओर देखें।

कुछ लोग शक्ति रखते हैं, इस शक्ति का प्रयोग भी आत्मसिद्धि के लिये करते हैं, परन्तु उन्हें ठीक उपाय का ज्ञान नहीं होता। वे ऐसे यात्री हैं जो गन्तव्य की कीमत को समझते हैं, वहां पहुंचने के लिये यत्न करते हैं, परन्तु अनुचित मार्ग पर चलकर भटकते फिरते हैं। ऐसे मनुष्यों की बड़ी संख्या भारत के साधुओं में मौजूद है। वे ख्याल करते हैं कि आत्मसिद्धि शरीर को कष्ट देने का दूसरा नाम है। वे अपने अंगों को सुखा देते हैं, या अन्य किसी तरह से बेकार कर देते हैं, सख्त गर्मी के दिनों में तपती बालू पर बैठते हैं, काँटों या कीलों पर लेटते हैं। उपनिषद ऐसे तप को व्यर्थ बताती है। इन लोगों में भाव मौजूद है, शक्ति भी है, परन्तु अज्ञान में उस शक्ति का ठीक प्रयोग नहीं करते।

चौथी श्रेणी उन लोगों की है जो विरक्त हो कर सन्यास में प्रविष्ट हो गये हैं। इन्हें चिह्न-रहित कहा गया है, क्योंकि यह कर्मकाण्ड के चिह्नों और अन्य रूढ़ियों से विमुक्त हो गये हैं। यह लोग कभी कभी अपनी विरक्तता को इतनी दूर ले जाते हैं कि ब्रह्मज्ञान की चेष्टा को भी बन्धन समझते हैं। उपनिषद इनके दृष्टिकोण को भी अमान्य समझती है। सन्यास का तत्व त्याग है। उपनिषद के विचारानुसार जो विद्वान त्याग आदि उपायों के साथ यत्न करते हैं, उन्हें आत्मा प्राप्त होता है। इस बयान में ज्ञान, भाव (त्याग) और यत्न तीनों को एक साथ रख दिया है। अभिप्राय यह है कि आत्मसिद्धि चेतना में किसी एक पक्ष की उन्नति नहीं, अपितु पुरुष की सर्वपक्षी उन्नति है।

संप्राप्यैनमृषयो ज्ञानतृप्ताः
कृतात्मानो वीतरागाः प्रशान्ताः।
ते सर्वगं सर्वतः प्राप्य धीराः
युक्तात्मानः सर्वमेवाविशन्ति ॥ ५ ॥

वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः
संन्यासयोगाद् यतयः शुद्धसत्वाः।
त ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले
परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे ॥ ६ ॥

गताः कलाः पञ्चदश प्रतिष्ठा
देवाश्च सर्वे प्रतिदेवतासु।
कर्माणि विज्ञानमयश्च आत्मा
परेऽव्यये सर्व एकीभवन्ति ॥ ७ ॥

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं
गच्छन्ति नामरूपे विहाय ।
तथा विद्वांन्नामरूपाद्विमुक्तः
परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥ ८ ॥

स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैवभवति, नास्याब्रह्मवित्कुले भवति ।

तरति शोकं तरति पाप्मानं गुहाग्रन्थिभ्यो विमुक्तोऽमृतो भवति ॥ ९ ॥

(५) 'इस आत्मा को तत्वदर्शी जन प्राप्त होकर, इस ज्ञान में तृप्त आत्मवेत्ता रागद्वेष से विमुक्त, शान्तचित्त हो जाते हैं। वह धीर और समाहित चित्त पुरुष सब ओर से सर्वव्यापक परमात्मा को प्राप्त होकर उस में पूर्णतया प्रवेश करते हैं।'

(६) 'वेदान्त रहस्य से जिन यति जनों ने तत्व का निश्चय कर लिया है, सन्यास योग से जो शुद्ध अन्तःकरण हो गये हैं, वे अन्तिम देहावसान होने पर ब्रह्मलोकों में अमरत्व को भोगते हुए पूर्ण रूप में छूट जाते हैं।'

(७) '१५ कलाएं (शरीर के प्राकृत अंश) अपने कारण में जा मिलती हैं; ज्ञानेन्द्रियां अपने दिव्य स्रोतों में चली जाती हैं। ज्ञानमय आत्मा और उसके कर्म सब परम सूक्ष्म पुरुष में एक हो जाते हैं।'

(८) 'जिस तरह बहती हुई नदियां नाम रूप को खोकर समुद्र में अस्त हो जाती हैं, उसी तरह ज्ञानी मनुष्य नामरूप से विमुक्त होकर महान से महान दिव्य पुरुष को प्राप्त होता है।'

(६) 'वह जो उस परम ब्रह्म को जानता है, ब्रह्म ही हो जाता है। इसके कुल में कोई ब्रह्म को न जानने वाला नहीं होता। वह शोक से पार हो जाता है, पाप को तर जाता है, उसकी हृदय ग्रन्थियाँ खुल जाती हैं, और वह अमृत हो जाता है।'

इन ५ श्लोकों में ब्रह्मज्ञान या आत्मसिद्धि के फल का वर्णन किया है। आत्मवेत्ता पुरुष आत्मज्ञान में तृप्त होता है। सांसारिक पदार्थ बहुधा हमारी पहुंच से बाहर होते हैं; उनके पीछे भागते रहना अपने आप को अशान्त और दुखी करना है। अन्य मनुष्यों के सम्बन्ध में भी वह वीतराग होता है।

'न काहू से दोस्ती, न काहू से बैर,
कबीरा खड़ा बाज़ार में, सब की मांगे खैर' ॥

यह शान्तचित्त होने का उपाय है। आत्मवेत्ता शान्तचित्त होता है; वह पूर्णतया अपने आप को परमात्मा में प्रविष्ट कर देता है।

आत्मसिद्धि का मार्ग लम्बा और कठिन है; इसके लिये अनेक जन्मों के प्रयत्न की आवश्यकता है। इनमें अन्तिम देहावसान होने पर साधक अमरत्व को प्राप्त करता है, और आवागमन से छूट जाता है।

मनुष्य का शरीर प्रकृति के अंशों से बना है। इसके भाग देहावसान पर उन अंशों में जा मिलते हैं। मनुष्य चेतन प्राणी है। जीवन काल में यह चेतना हमें ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा बाह्य जगत के सम्पर्क में लाती है। यह वस्तुज्ञान भी समाप्त हो जाता है; इसके साधन अपने अपने दिव्य कारणों में जा पहुंचते हैं। शेष क्या रह जाता है? आत्मा मिश्रित पदार्थ नहीं; इसका विच्छेद नहीं होता। यह विज्ञानमय है; चेतनता इसका तत्व है। जो कुछ अपनी लम्बी यात्रा में इसने कमाया है, वह भी नष्ट नहीं होता। विज्ञान प्रकृति और शक्ति (एनर्जी) की स्थिति को मौलिक सिद्धान्त मानता है। मूल्यों की सृष्टि में मूल्य की स्थिरता भी मान्य सिद्धान्त है। आत्मसिद्धि सबसे बड़ा मूल्य

है; विवेक-युक्त व्यवस्था में इसे स्थिर रहना चाहिये। उपनिषद में कहा है कि मोक्ष होने पर शरीर के अंश-भूत और इन्द्रियाँ तो यहीं रह जाती हैं, आत्मा के कर्म उसके साथ जाते हैं।

जब तक मनुष्य संसार में रहता है, वह व्यक्ति की स्थिति में रहता है; वह हरेक अन्य मनुष्य से पृथक है, और हरेक उससे पृथक है। इस व्यक्तित्व को ही 'नाम-रूप' कहते हैं। प्रत्येक वस्तु का अपना रूप है, और कोई दो वस्तुएँ आकृति में एक दूसरे के सर्वथा समान नहीं। व्यवहार की सुविधा के लिये हम कुछ वस्तुओं को नाम देते हैं : कुछ तारों को, कुछ वृक्षों को, कुछ पशु पक्षियों को, नदियों आदि को। समाज में प्रत्येक मनुष्य का महत्व उसे विशेष नाम का अधिकारी बनाता है। श्लोक ८ में कहा है कि जिस तरह नदियाँ समुद्र में पहुँच कर अपना नाम रूप खो देती हैं, उसी प्रकार मुक्त पुरुष भी अपना नाम रूप खो देता है, और ब्रह्म का अंश सा ही बन जाता है।

दार्शनिक विवेचन के लिये सिद्ध पुरुष की स्थिति एक विवाद का विषय है। ज्यों ज्यों जीवन का स्तर ऊँचा होता जाता है, प्राणी का व्यक्तित्व बढ़ता जाता है। एक विचार के अनुसार आत्म-उन्नति के अन्तिम चरण में व्यक्तित्व अन्तिम सीमा तक पहुँच जाता है; अन्य शब्दों में उसकी स्वतन्त्र चेतना बनी रहती है। दूसरे विचार के अनुसार उन्नति का अर्थ अपने आप को समस्त में विलीन करना है; अन्तिम चरण पर अस्तित्व बना रहे, तो भी इसका बोध नहीं होता।

उपनिषद में नदियों के समुद्र में जा मिलने की उपमा दी है। वास्तव में यह उपमा हमारी बहुत सहायता नहीं करती। नदी को नाम हम देते हैं; उसका आकार भी बाहर के हालात से निश्चित होता है। जब वह समुद्र में जा गिरती है, तो जो जल पहले एक स्थान पर था, वह बिना घटे बढ़े, दूसरे स्थान में विद्यमान है। हम उसे पहले पृथक देखते थे, अब नहीं देख सकते। चेतन आत्माओं की हालत में हमें इस प्रकार का कोई अनुभव नहीं। प्रेम

योग के बहुत निकट पहुँचता है, परन्तु यह भी संयोग है, अभिन्नता नहीं।

उपनिषद में एक और उपमा तीर के लक्ष्य में जा मिलने की दी है। जब तीर लक्ष्य को बींधता है, तो लक्ष्य का अंश सा ही बन जाता है—अंश नहीं, अंश सा बन जाता है; स्वतन्त्र तीर की क्रिया करने की क्षमता खो देता है।

योग में जीव और ब्रह्म का संयोग होता है, या अभिन्नता हो जाती है—यह एक खुला प्रश्न है।

श्लोक ९ में जीवन मुक्त मनुष्य की स्थिति बयान की गई है। उसके अपने जीवन में शोक और पाप का अभाव हो जाता है, उसकी हृदय-ग्रन्थियां खुल जाती हैं। उसके प्रभाव से उसके कुल में भी ब्रह्मजिज्ञासा प्रमुख चिन्ह बन जाती है।

तदेतदृचाऽभ्युक्तम्:—

क्रियावन्तः श्रोत्रियो ब्रह्मनिष्ठाः

स्वयं जुह्वत एकर्षिं श्रद्धयन्तः।

तेषामेवैतां ब्रह्मविद्यां वदेत

शिरोव्रतं विधिवद्यैस्तु चीर्णम् ॥१०॥

तदेतत्सत्यमृषिरङ्गिराः पुरोवाच, नैतदचीर्णव्रतोऽधीते।

नमः परमऋषिभ्यो नमः परमऋषिभ्यः ॥११॥

(१०) यह इस ऋचा द्वारा कहा गया है।

'गुरु यह ब्रह्मविद्या ऐसे लोगों को कहे, जो विहित कर्म करते हों, वेद को जानते हों, ब्रह्मनिष्ठ और श्रद्धावान हों, एक ऋषि की पूजा करते हों, और जिन्होंने विधिपूर्वक शिरोव्रत को धारण किया हो।'

(११) 'यह ज्ञान पहिले अङ्गिरा ऋषि ने दिया। व्रतहीन मनुष्य के लिए यह ज्ञान नहीं।

परम ऋषियों को प्रणाम। परम ऋषियों को प्रणाम।'

श्लोक १० में कहा गया है कि ब्रह्मविद्या प्राप्ति का अधिकार किन लोगों को है। श्लोक में 'एक ऋषि' से यज्ञ-अग्नि समझी जाती है। इस ऋषि की पूजा यज्ञ हवन का करना है।

'शिरोव्रत' के स्वरूप की बाबत निश्चय से कह नहीं सकते। ऐसा प्रतीत होता है कि जिज्ञासु अध्ययन आरम्भ करने से पहले अग्निकुण्ड को सिर पर रख कर शपथ लेता था। अब शपथ में कुण्ड के स्थान में कोई धर्म पुस्तक सिर पर रखी जाती है।

अधिकार का प्रश्न महत्व रखता था, जब शिक्षा मौखिक होती थी, और शिक्षक शिष्य को हाँ या न कर सकता था। नवीन स्थिति में छपी हुई पुस्तकें शिक्षा का प्रमुख माध्यम हैं। शिक्षक और शिष्य स्पष्ट सम्पर्क में आते ही नहीं; जो चाहे शिक्षक बन सकता है; जो चाहे, अपनी योग्यता के अनुसार हर कहीं से शिक्षा प्राप्त कर सकता है।

श्लोक ११ में अंगिरा की ओर फिर संकेत किया है, जिससे शौनक ने यह शिक्षा प्राप्त की।

श्लोक के अन्तिम शब्द दुहराये गये हैं; यह इस बात की सूचना है कि यहाँ उपनिषद समाप्त होती है।

भजन

१—उठ जाग मुसाफिर

[महात्मा गांधी का प्यारा भजन]

उठ जाग मुसाफ़िर भोर भई,
अब रैन कहां जो सोवत है।
जो जागत है सो पावत है,
जो सोवत है सो खोवत है॥
उठ नींद से अखियां खोल ज़रा,
और अपने प्रभु से प्रीति लगा।
यह प्रीति करन की रीति नहीं,
प्रभु जागत है तू सोवत है॥
जो कल करना सो आज करले,
जो आज करना सो अब करले।
जब चिड़ियन ने चुग खेत लिया,
फिर पछताये क्या होवत है?
नादान भुगत करनी अपनी,
ओ पापी पाप में चैन कहां?
जब पाप की गठरी सीस धरी,
फिर सीस पकड़ क्यों रोवत है?

२—हे जगत स्वामी

(महात्मा हंसराज का प्यारा भजन)

हे जगत स्वामी, स्वामी भेट धरूँ क्या मैं तेरी ?
माल नहीं, मेरे सम्पद नाहीं, जिसको कहूँ मैं मेरी ।
इस जग में हम ऐसे बिचरे, जोगी करें ज्यों फेरी ॥
धन जन यौवन अपना माने, मूरख भूला भारी ।
तुझ बिन और सहाई न मेरा, देख लिया मैं विचारी ॥
यह तन, यह मन होय न अपना, हैं सब माल तुम्हारा ।
जब चाहें, तब ही तू लेवें, नहीं कुछ ज़ोर हमारा ॥
तुमरे ही दर का मैं सेवक स्वामी, लाज तुझे है मेरी ।
चरण शरण निज अर्पण करके, देहो भक्ति विन देरी ॥

३— तुम हो प्रभु चांद

तुम हो प्रभु चाँद, मैं हूँ चकोरा ।
तुम हो कमल फूल, मैं रस का भौंरा ॥
ज्योति तुम्हारी का मैं हूँ पतंगा ।
आनन्दघन तुम हो, मैं बन का मोरा ॥
जैसे है चुम्बक को लोहे से प्रीति ।
आकर्षण करे मोहि लगातार तोरा ॥
पानी बिना जैसे हो मीन व्याकुल,
ऐसे ही तड़पाय तोरा बिछोड़ा ।

इक बूँद जल का मैं प्यासा हूँ चातक ।
अमृत की करो वर्षा, हरो ताप मोरा ॥

४—दो कर जोड़

दो कर जोड़ विनय करूँ तोरे, सब अपराध क्षमा करो मोरे ।
मैं छलिया कपटी अति कामी, तुम हो पतित उद्धारक नामी ॥
तुम्हें छोड़ किस द्वारे जायें, मन की बिथा हम किसको सुनायें ?
हम सेवक हैं अनुगत बालक, तुम स्वामी रक्षक प्रतिपालक ॥
आन गिरे हम शरण तिहारी, जन्म मरण का है दुख भारी ।
विनय करें प्रति दिन उठ प्रातः, हमको कण्ठ लगाओ ताता ॥
हे मंगलमय, मंगलदाता, तुम हो मातु-पिता, मम भ्राता ।
चारों पदारथ आपहि दीजै, दर-दर का नहिं भिक्षुक कीजै ॥

५— प्रभु को सुमिर सुमिर

प्रभु को सुमिर सुमिर मन मेरे, पाप कटें सब तेरे ।
नाम, दान और स्नान निरर्थक, जो मन प्रीति न तेरे ।
जात पात की बात न पूछे, पूछे काज भलेरे ।
जिन कर्तार अकाल पछाता, सोई जगत उचेरे ।
दो दिन के सुख कारण मूरख, पावत उमर बखेड़े ।
गंग यमुन काशी बन जंगल, हर घट में हर नेड़े ।
पर जो उसको ढूँढ़न जावत, ऊजड़ फिरत अँधेरे ।
साँच त्याग मिथ्या जिन पकड़ी, अति उन दुःख सहेड़े ।
एक मात्र जो प्रभु को सुमरे, हम तिसके हैं चेरे ॥